॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अवतरणिका—

सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करनेवाले पुरुषोंको सिद्धि, सुख और परमगति न मिलनेकी बात कही। यह सुननेपर अर्जुनके मनमें आया कि शास्त्रविधिको ठीक-ठीक जाननेवाले लोग तो बहुत कम हैं। अधिक संख्यामें ऐसे ही लोग हैं, जो शास्त्रविधिको तो जानते नहीं, पर अपनी कुल-परम्परा, वर्ण, आश्रम, संस्कार आदिके अनुसार देवता आदिका श्रद्धापूर्वक यजन (पूजन) करते हैं। शास्त्रविधिका त्याग होनेसे ऐसे पुरुषोंकी नीची (आसुरी) स्थिति होनी चाहिये और श्रद्धा होनेसे ऊँची (दैवी) स्थिति होनी चाहिये। इसलिये वास्तवमें उनकी क्या स्थिति है—यह जाननेके लिये अर्जुन पहले श्लोकमें प्रश्न करते हैं[1]।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	= हे कृष्ण!	**यजन्ते**	= (देवता आदिका) पूजन करते हैं,	**का**	= कौन-सी है?
ये	= जो मनुष्य			**सत्त्वम्**	= सात्त्विकी है
शास्त्रविधिम्	= शास्त्रविधिका	**तेषाम्**	= उनकी	**आहो**	= अथवा
उत्सृज्य	= त्याग करके	**निष्ठा**	= निष्ठा	**रजः, तमः**	= राजसी-तामसी
श्रद्धया, अन्विताः	= श्रद्धापूर्वक	**तु**	= फिर		

व्याख्या—[यह सत्रहवाँ अध्याय सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकपर चला है। उसीको लेकर अर्जुन वहाँ आये **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य'** (जो शास्त्रविधिका त्याग करके) की जगह यहाँ **'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य'** ही कहकर **'कामकारतः'** (मनमाने ढंगसे) की जगह **'श्रद्धयान्विताः'** (श्रद्धासे) कहते हैं; **'वर्तते'** (बर्ताव करता है) की जगह **'यजन्ते'** (यजन करता है) कहते हैं; और **'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'** (वह सिद्धि, सुख और परमगतिको प्राप्त नहीं होता) की जगह **'तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः'** (उनकी निष्ठा कौन-सी है? सात्त्विकी—दैवी-सम्पत्तिवाली अथवा राजसी-तामसी—आसुरी-सम्पत्तिवाली?) कहकर भगवान्‌से प्रश्न करते हैं।]

'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य...... सत्त्वमाहो रजस्तमः'—श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिये है। उन दोनोंके सामने कलियुगकी जनता थी; क्योंकि द्वापरयुग समाप्त हो रहा था। आगे आनेवाले कलियुगी जीवोंकी तरफ दृष्टि रहनेसे अर्जुन पूछते हैं कि महाराज! जिन मनुष्योंका भाव बड़ा अच्छा है, श्रद्धा-भक्ति भी है, पर शास्त्रविधिको जानते नहीं[2]। यदि वे जान जायँ, तो पालन करने लग जायँ, पर उनको पता नहीं। अतः उनकी क्या स्थिति होती है?

१-इस (सत्रहवें) अध्यायको नवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोक (यत्करोषि यदश्नासि'''''''तत्कुरुष्व मदर्पणम्) की व्याख्या मानना विचारसे युक्तिसंगत नहीं बैठता। कारण कि नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक 'भगवदर्पण-विषयक' प्रकरणमें आया है, जो छब्बीसवें श्लोकसे आरम्भ हुआ है और अट्ठाईसवें श्लोकमें (भगवदर्पणका फल बतलाकर) समाप्त हुआ है। परन्तु यहाँ मनुष्योंकी श्रद्धाको पहचाननेका प्रसंग है; क्योंकि इस (सत्रहवें) अध्यायके आरम्भमें अर्जुनका प्रश्न मनुष्योंकी निष्ठा, श्रद्धाको लेकर ही है। अतः भगवान् उसका उत्तर भी श्रद्धाको लेकर ही देते हैं।

२-शास्त्रविधिका त्याग तीन कारणोंसे होता है—(१) अज्ञतासे, (२) उपेक्षासे और (३) विरोधसे।

आगे आनेवाली जनतामें शास्त्रका ज्ञान बहुत कम रहेगा। उन्हें अच्छा सत्संग मिलना भी कठिन होगा; क्योंकि अच्छे सन्त-महात्मा पहले युगोंमें भी कम हुए हैं, फिर कलियुगमें तो और भी कम होंगे। कम होनेपर भी यदि भीतर चाहना हो तो उन्हें सत्संग मिल सकता है। परन्तु मुश्किल यह है कि कलियुगमें दम्भ, पाखण्ड ज्यादा होनेसे कई दम्भी और पाखण्डी पुरुष सन्त बन जाते हैं। अत: सच्चे सन्त पहचानमें आने मुश्किल हैं। इस प्रकार पहले तो सन्त-महात्मा मिलने कठिन हैं और मिल भी जायँ तो उनमेंसे कौन-से संत कैसे हैं—इस बातकी पहचान प्राय: नहीं होती और पहचान हुए बिना उनका संग करके विशेष लाभ ले लें—ऐसी बात भी नहीं है। अत: जो शास्त्र-विधिको भी नहीं जानते और असली सन्तोंका संग भी नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ यजन-पूजन करते हैं, श्रद्धासे करते हैं—ऐसे मनुष्योंकी निष्ठा कौन-सी होती है? सात्त्विकी अथवा राजसी-तामसी?

'**सत्त्वमाहो रजस्तमः**' पदोंमें सत्त्वगुणको दैवी-सम्पत्तिमें और रजोगुण तथा तमोगुणको आसुरी-सम्पत्तिमें ले लिया गया है। रजोगुणको आसुरी-सम्पत्तिमें लेनेका कारण यह है कि रजोगुण-तमोगुणके बहुत निकट हैं[1]। गीतामें कई जगह ऐसी बात आयी है; जैसे—दूसरे अध्यायके बासठवें-तिरसठवें श्लोकोंमें काम अर्थात् रजोगुणसे क्रोध और क्रोधसे मोहरूप तमोगुणका उत्पन्न होना बताया गया है[2]। ऐसे ही अठारहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें हिंसात्मक और शोकान्वितको रजोगुणी कर्ताका लक्षण बताया गया है और अठारहवें अध्यायके ही पचीसवें श्लोकमें 'हिंसा' को तामस कर्मका लक्षण और पैंतीसवें श्लोकमें 'शोक' को तामस धृतिका लक्षण बताया गया है। इस प्रकार रजोगुण और तमोगुणके बहुत-से लक्षण आपसमें मिलते हैं।

सात्त्विक भाव, आचरण और विचार दैवी-सम्पत्तिके होते हैं और राजसी-तामसी भाव, आचरण और विचार आसुरी-सम्पत्तिके होते हैं। सम्पत्तिके अनुसार ही निष्ठा होती है अर्थात् मनुष्यके जैसे भाव, आचरण और विचार होते हैं, उन्हींके अनुसार उसकी स्थिति (निष्ठा) होती है। स्थितिके अनुसार ही आगे गति होती है। आप कहते हैं कि शास्त्र-विधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करनेपर सिद्धि, सुख और परमगति नहीं मिलती, तो जब उनकी निष्ठाका ही पता नहीं, फिर उनकी गतिका क्या पता लगे? इसलिये आप उनकी निष्ठा बताइये, जिससे पता लग जाय कि वे सात्त्विकी गतिमें जाननेवाले हैं या राजसी-तामसी गतिमें।

'कृष्ण' का अर्थ है—खींचनेवाला। यहाँ 'कृष्ण' सम्बोधनका तात्पर्य यह मालूम देता है कि आप ऐसे मनुष्योंको अन्तिम समयमें किस ओर खींचेंगे? उनको किस गतिकी तरफ ले जायँगे? छठे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें भी अर्जुनने गति-विषयक प्रश्नमें 'कृष्ण' सम्बोधन दिया है—'**कां गतिं कृष्ण गच्छति**'। यहाँ भी अर्जुनका निष्ठा पूछनेका तात्पर्य गतिमें ही है।

मनुष्यको भगवान् खींचते हैं या वह कर्मोंके अनुसार स्वयं खींचा जाता है? वस्तुत: कर्मोंके अनुसार ही फल मिलता है, पर कर्मफलके विधायक होनेसे भगवान्का खींचना सम्पूर्ण फलोंमें होता है। तामसी कर्मोंका फल नरक होगा, तो भगवान् नरकोंकी तरफ खींचेंगे। वास्तवमें नरकोंके द्वारा पापोंका नाश करके प्रकारान्तरसे भगवान् अपनी तरफ ही खींचते हैं। उनका किसीसे भी वैर या द्वेष नहीं है। तभी तो आसुरी योनियोंमें जानेवालोंके लिये भगवान् कहते हैं कि वे मेरेको प्राप्त न होकर अधोगतिमें चले गये (सोलहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। कारण कि उनका अधोगतिमें जाना भगवान्को सुहाता नहीं है। इसलिये सात्त्विक मनुष्य हो, राजस मनुष्य हो या तामस मनुष्य हो, भगवान् सबको अपनी तरफ ही खींचते हैं। इसी भावसे यहाँ 'कृष्ण' सम्बोधन आया है।

सम्बन्ध—शास्त्रविधिको न जाननेपर भी मनुष्यमात्रमें किसी-न-किसी प्रकारकी स्वभावजा श्रद्धा तो रहती ही है। उस श्रद्धाके भेद आगेके श्लोकमें बताते हैं।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

१-तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—तीनों गुणोंमें परस्पर दसगुना अन्तर है। जैसे एकका दसगुना दस; और दसका दसगुना सौ है, उसी तरह तमोगुण (१) से दसगुना श्रेष्ठ रजोगुण (१०) है और रजोगुणसे दसगुना श्रेष्ठ सत्त्वगुण (१००) है। तात्पर्य है कि तमोगुण और रजोगुण पास-पासमें हैं, जबकि सत्त्वगुण दोनोंसे बहुत दूर है।

२-क्रोधका कारण रजोगुण है और कार्य तमोगुण है।

श्रीभगवान् बोले—

देहिनाम्	= मनुष्योंकी	**च**	= तथा	**एव**	= ही
सा	= वह	**राजसी**	= राजसी	**भवति**	= होती है,
स्वभावजा	= स्वभावसे उत्पन्न हुई	**च**	= और	**ताम्**	= उसको (तुम मुझसे)
		तामसी	= तामसी		
श्रद्धा	= श्रद्धा	**इति**	= —ऐसे		
सात्त्विकी	= सात्त्विकी	**त्रिविधा**	= तीन तरहकी	**शृणु**	= सुनो।

व्याख्या—[अर्जुनने निष्ठाको जाननेके लिये प्रश्न किया था, पर भगवान् उसका उत्तर श्रद्धाको लेकर देते हैं; क्योंकि श्रद्धाके अनुसार ही निष्ठा होती है।]

'**त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा**'—श्रद्धा तीन तरहकी होती है। वह श्रद्धा कौन-सी है? संगजा है, शास्त्रजा है या स्वभावजा है? तो कहते हैं कि वह स्वभावजा है—'**सा स्वभावजा**' अर्थात् स्वभावसे पैदा हुई स्वत:सिद्ध श्रद्धा है। वह न तो संगसे पैदा हुई है और न शास्त्रोंसे पैदा हुई है। वे स्वाभाविक इस प्रवाहमें बह रहे हैं और देवता आदिका पूजन करते जा रहे हैं।

'**सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु**'—वह स्वभावजा श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उन तीनोंको अलग-अलग सुनो।

पीछेके श्लोकमें '**सत्त्वमाहो रजस्तम:**' पदोंमें '**आहो**' अव्यय देनेका तात्पर्य यह था कि अर्जुनकी दृष्टिमें '**सत्त्वम्**' से दैवी-सम्पत्ति और '**रजस्तम:**' से आसुरी-सम्पत्ति—ये दो ही विभाग हैं और भगवान् भी बन्धनकी दृष्टिसे राजसी-तामसी दोनोंको आसुरी-सम्पत्ति ही मानते हैं—'**निबन्धायासुरीमता**' (१६।५)। परंतु बन्धनकी दृष्टिसे राजसी और तामसी एक होते हुए भी दोनोंके बन्धनमें भेद है। राजस मनुष्य सकामभावसे शास्त्रविहित कर्म भी करते हैं; अत: वे स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाकर और वहाँके भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर फिर मृत्युलोकमें लौट आते हैं—'**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**' (गीता ९।२१)। परन्तु तामस मनुष्य शास्त्रविहित कर्म नहीं करते; अत: वे कामना और मूढ़ताके कारण अधम गतिमें जाते हैं—'**अधो गच्छन्ति तामसा:**' (गीता १४।१८)। इस प्रकार राजस और तामस—दोनों ही मनुष्योंका बन्धन बना रहता है। दोनोंके बन्धनमें भेदकी दृष्टिसे ही भगवान् आसुरी-सम्पदावालोंकी श्रद्धाके राजसी और तामसी—दो भेद करते हैं और सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी—तीनों श्रद्धाओंको अलग-अलग सुननेके लिये कहते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित स्वभावजा श्रद्धाके तीन भेद क्यों होते हैं—इसे भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

भारत	= हे भारत!	**भवति**	= होती है।	**यच्छ्रद्धः**	= जैसी श्रद्धावाला है,
सर्वस्य	= सभी मनुष्योंकी	**अयम्**	= यह	**सः, एव**	= वही
श्रद्धा	= श्रद्धा	**पुरुषः**	= मनुष्य	**सः**	= उसका स्वरूप है अर्थात् वही उसकी निष्ठा (स्थिति) है।
सत्त्वानुरूपा	= अन्त:करणके अनुरूप	**श्रद्धामयः**	= श्रद्धामय है।		
		यः	= (इसलिये) जो		

व्याख्या—'**सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत**'—पीछेके श्लोकमें जिसे '**स्वभावजा**' कहा गया है, उसीको यहाँ '**सत्त्वानुरूपा**' कहा है। '**सत्त्व**' नाम अन्त:करणका है। अन्त:करणके अनुरूप श्रद्धा होती है अर्थात् अन्त:करण जैसा होता है, उसमें सात्त्विक, राजस या तामस जैसे संस्कार होते हैं, वैसी ही श्रद्धा होती है।

दूसरे श्लोकमें जिनको '**देहिनाम्**' पदसे कहा था, उन्हींको यहाँ '**सर्वस्य**' पदसे कह रहे हैं। '**सर्वस्य**' पदका तात्पर्य है कि जो शास्त्रविधिको न जानते हों और देवता आदिका पूजन करते हों—उनकी ही नहीं, प्रत्युत जो शास्त्रविधिको जानते हों या न जानते हों, मानते हों या न मानते हों, अनुष्ठान करते हों या न करते हों, किसी

जातिके, किसी वर्णके, किसी आश्रमके, किसी सम्प्रदायके, किसी देशके, कोई व्यक्ति कैसे ही क्यों न हों—उन सभीकी स्वाभाविक श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है।

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'—यह मनुष्य श्रद्धा-प्रधान है। अतः जैसी उसकी श्रद्धा होगी, वैसा ही उसका रूप होगा। उससे जो प्रवृत्ति होगी, वह श्रद्धाको लेकर, श्रद्धाके अनुसार ही होगी।

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—जो मनुष्य जैसी श्रद्धा-वाला है, वैसी ही उसकी निष्ठा होगी और उसके अनुसार ही उसकी गति होगी। उसका प्रत्येक भाव और क्रिया अन्तःकरणकी श्रद्धाके अनुसार ही होगी। जबतक वह संसारसे सम्बन्ध रखेगा, तबतक अन्तःकरणके अनुरूप ही उसका स्वरूप होगा।

मार्मिक बात

मनुष्यकी सांसारिक प्रवृत्ति संसारके पदार्थोंको सच्चा मानने, देखने, सुनने और भोगनेसे होती है तथा पारमार्थिक प्रवृत्ति परमात्मामें श्रद्धा करनेसे होती है। जिसे हम अपने अनुभवसे नहीं जानते, पर पूर्वके स्वाभाविक संस्कारोंसे, शास्त्रोंसे, संत-महात्माओंसे सुनकर पूज्यभावसहित विश्वास कर लेते हैं, उसका नाम है—श्रद्धा। श्रद्धाको लेकर ही आध्यात्मिक मार्गमें प्रवेश होता है, फिर चाहे वह मार्ग कर्मयोगका हो, चाहे ज्ञानयोगका हो और चाहे भक्तियोगका हो, साध्य और साधन—दोनोंपर श्रद्धा हुए बिना आध्यात्मिक मार्गमें प्रगति नहीं होती।

मनुष्य-जीवनमें श्रद्धाकी बड़ी मुख्यता है। मनुष्य जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उसका स्वरूप, उसकी निष्ठा है—**'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** (गीता १७। ३)। वह आज वैसा न दीखे तो भी क्या? पर समय पाकर वह वैसा बन ही जायगा।

आजकल साधकके लिये अपनी स्वाभाविक श्रद्धाको पहचानना बड़ा मुश्किल हो गया है। कारण कि अनेक मत-मतान्तर हो गये हैं। कोई ज्ञानकी प्रधानता कहता है, कोई भक्तिकी प्रधानता कहता है, कोई योगकी प्रधानता कहता है, आदि-आदि। ऐसे तरह-तरहके सिद्धान्त पढ़ने और सुननेसे मनुष्यपर उनका असर पड़ता है, जिससे वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है कि मैं क्या करूँ? मेरा वास्तविक ध्येय, लक्ष्य क्या है? मेरेको किधर चलना चाहिये? ऐसी दशामें उसे गहरी रीतिसे अपने भीतरके भावोंपर विचार करना चाहिये कि संगसे बनी हुई रुचि, शास्त्रसे बनी हुई रुचि, किसीके सिखानेसे बनी हुई रुचि, गुरुके बतानेसे बनी हुई रुचि—ऐसी जो अनेक रुचियाँ हैं, उन सबके मूलमें स्वतः उद्‌बुद्ध होनेवाली अपनी स्वाभाविक रुचि क्या है?

मूलमें सबकी स्वाभाविक रुचि यह होती है कि मैं सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाऊँ और मुझे सदाके लिये महान् सुख मिल जाय। ऐसी रुचि हरेक प्राणीके भीतर रहती है। मनुष्योंमें तो यह रुचि कुछ जाग्रत् रहती है। उनमें पिछले जन्मोंके जैसे संस्कार हैं और इस जन्ममें वे जैसे माता-पितासे पैदा हुए, जैसे वायुमण्डलमें रहे, जैसी उनको शिक्षा मिली, जैसे उनके सामने दृश्य आये और वे जो ईश्वरकी बातें, परलोक तथा पुनर्जन्मकी बातें, मुक्ति और बन्धनकी बातें, सत्संग और कुसंगकी बातें सुनते रहते हैं, उन सबका उनपर अदृश्यरूपसे असर पड़ता है। उस असरसे उनकी एक धारणा बनती है। उनकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी—जैसी प्रकृति होती है, उसीके अनुसार वे उस धारणाको पकड़ते हैं और उस धारणाके अनुसार ही उनकी रुचि—श्रद्धा बनती है। इसमें सात्त्विकी श्रद्धा परमात्माकी तरफ लगानेवाली होती है और राजसी-तामसी श्रद्धा संसारकी तरफ।

गीतामें जहाँ-कहीं सात्त्विकताका वर्णन हुआ है, वह परमात्माकी तरफ ही लगानेवाली है। अतः सात्त्विकी श्रद्धा पारमार्थिक हुई और राजसी-तामसी श्रद्धा सांसारिक हुई अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा दैवी-सम्पत्ति हुई और राजसी-तामसी श्रद्धा आसुरी-सम्पत्ति हुई। दैवी-सम्पत्तिको प्रकट करने और आसुरी-सम्पत्तिका त्याग करनेके उद्देश्यसे सत्रहवाँ अध्याय चला है। कारण कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यके लिये सात्त्विकी श्रद्धा (दैवी-सम्पत्ति) ग्राह्य है और राजसी-तामसी श्रद्धा (आसुरी-सम्पत्ति) त्याज्य है।

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसकी श्रद्धा सात्त्विकी होती है, जो मनुष्य इस जन्ममें तथा मरनेके बाद भी सुख-सम्पत्ति-(स्वर्गादि-) को चाहता है, उसकी श्रद्धा राजसी होती है और जो मनुष्य पशुओंकी तरह (मूढ़ता-पूर्वक) केवल खाने-पीने, भोग भोगने तथा प्रमाद, आलस्य, निद्रा, खेल-कूद, तमाशे आदिमें लगा रहता है, उसकी श्रद्धा तामसी होती है। सात्त्विकी श्रद्धाके लिये सबसे पहली बात है कि 'परमात्मा है।' शास्त्रोंसे, संत-महात्माओंसे, गुरुजनोंसे सुनकर पूज्यभावके सहित ऐसा विश्वास हो जाय कि 'परमात्मा है और उसको प्राप्त करना है'—इसका नाम श्रद्धा है। ठीक श्रद्धा जहाँ होती है, वहाँ

प्रेम स्वत: हो जाता है। कारण कि जिस परमात्मामें श्रद्धा होती है, उसी परमात्माका अंश यह जीवात्मा है। अत: श्रद्धा होते ही यह परमात्माकी तरफ खिंचता है। अभी यह परमात्मासे विमुख होकर जो संसारमें लगा हुआ है, वह भी संसारमें श्रद्धा-विश्वास होनेसे ही है। पर यह वास्तविक श्रद्धा नहीं है, प्रत्युत श्रद्धाका दुरुपयोग है। जैसे, संसारमें यह रुपयोंपर विशेष श्रद्धा करता है कि इनसे सब कुछ मिल जाता है। यह श्रद्धा कैसे हुई? कारण कि बचपनमें खाने और खेलनेके पदार्थ पैसोंसे मिलते थे। ऐसा देखते-देखते पैसोंको ही मुख्य मान लिया और उसीमें श्रद्धा कर ली, जिससे यह बहुत ही पतनकी तरफ चला गया। यह सांसारिक श्रद्धा हुई। इससे ऊँची धार्मिक श्रद्धा होती है कि मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ। परन्तु सबसे ऊँची श्रद्धा पारमार्थिक (परमात्माको लेकर) है। यही वास्तविक श्रद्धा है और इसीसे कल्याण होता है। शास्त्रोंमें, सन्त-महात्माओंमें, तत्त्वज्ञ-जीवन्मुक्तोंमें जो श्रद्धा होती है, वह भी पारमार्थिक श्रद्धा ही है।*

जिनको शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है और सन्त-महात्माओंका संग भी नहीं है, ऐसे मनुष्योंकी भी पूर्व-संस्कारके कारण पारमार्थिक श्रद्धा हो सकती है। इसकी पहचान क्या है? पहचान यह है कि ऐसे मनुष्योंके भीतर स्वाभाविक यह भाव होता है कि ऐसी कोई महान् चीज (परमात्मा) है, जो दीखती तो नहीं, पर है अवश्य। ऐसे मनुष्योंको स्वाभाविक ही पारमार्थिक बातें बहुत प्रिय लगती हैं और वे स्वाभाविक ही यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, सत्संग, स्वाध्याय आदि शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। यदि वे ऐसे कर्म न भी करें, तो भी सात्त्विक आहारमें स्वाभाविक रुचि होनेसे उनकी श्रद्धाकी पहचान हो जाती है।

मनुष्य, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष आदि जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, वे किसी-न-किसीको (किसी-न-किसी अंशमें) अपनेसे बड़ा अवश्य मानते हैं और बड़ा मानकर उसका सहारा लेते हैं। मनुष्यपर जब आफत आती है, तब वह किसीको अपनेसे बड़ा मानकर उसका सहारा लेता है। पशु-पक्षी भी अपनी रक्षा चाहते हैं और भयभीत होनेपर किसीका सहारा लेते हैं। लता भी किसीका सहारा लेकर ही ऊँची चढ़ती है। इस प्रकार जिसने किसीको बड़ा मानकर उसका सहारा लिया, उसने वास्तवमें 'ईश्वरवाद' के सिद्धान्तको स्वीकार कर ही लिया, चाहे वह ईश्वरको माने या न माने। इसलिये आयु, विद्या, गुण, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य, पद, अधिकार, ऐश्वर्य आदिमेंसे एक-एकसे बड़ा देखे, तो बड़प्पन देखते-देखते अन्तमें बड़प्पनकी जहाँ समाप्ति हो, वहीं ईश्वर है; क्योंकि बड़े-से-बड़ा ईश्वर है। उससे बड़ा कोई है ही नहीं—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(योगदर्शन १। २६)

'वह परमात्मा सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है अर्थात् वह कालकी सीमासे बाहर है।'

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी दृष्टिसे किसी-न-किसीको बड़ा मानता है। बड़प्पनकी यह मान्यता अपने-अपने अन्त:करणके भावोंके अनुसार अलग-अलग होती है। इस कारण उनकी श्रद्धा भी अलग-अलग होती है।

श्रद्धा अन्त:करणके अनुरूप ही होती है। धारणा, मान्यता, भावना आदि सभी अन्त:करणमें रहते हैं। इसलिये अन्त:करणमें सात्त्विक, राजस या तामस जिस गुणकी प्रधानता रहती है, उसी गुणके अनुसार धारणा, मान्यता आदि बनती है और उस धारणा, मान्यता आदिके अनुसार ही तीन प्रकारकी (सात्त्विकी, राजसी या तामसी) श्रद्धा बनती है।

सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों गुण सभी प्राणियोंमें रहते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक)। उन प्राणियोंमें किसीमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, किसीमें रजोगुणकी प्रधानता होती है और किसीमें तमोगुणकी प्रधानता होती है। अत: यह नियम नहीं है कि सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले मनुष्यमें रजोगुण और तमोगुण न आयें, रजोगुणकी प्रधानतावाले मनुष्यमें सत्त्वगुण और तमोगुण न आयें, तथा तमोगुणकी प्रधानतावाले मनुष्यमें सत्त्वगुण और रजोगुण न आयें (गीता—चौदहवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)। कारण कि प्रकृति परिवर्तनशील है—**'प्रकर्षेण करणं (भावे ल्युट्) इति प्रकृतिः।'** इसलिये प्रकृतिजन्य गुणोंमें भी परिवर्तन होता रहता है। अत: एकमात्र परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यवाले साधकको चाहिये कि वह उन आने-जानेवाले गुणोंसे अपना सम्बन्ध मानकर उनसे विचलित न हो।

जीवमात्र परमात्माका अंश है। इसलिये किसी मनुष्यमें

*** सांसारिक श्रद्धामें 'भोग' की, धार्मिक श्रद्धामें 'भाव' की और पारमार्थिक श्रद्धामें 'तत्त्व' की प्रधानता है।**

रजोगुण-तमोगुणकी प्रधानता देखकर उसे नीचा नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि कौन-सा मनुष्य किस समय समुन्नत हो जाय—इसका कुछ पता नहीं है। कारण कि परमात्माका अंश—स्वरूप (आत्मा) तो सबका शुद्ध ही है, केवल संग, शास्त्र, विचार, वायुमण्डल आदिको लेकर अन्त:करणमें किसी एक गुणकी प्रधानता हो जाती है अर्थात् जैसा संग, शास्त्र आदि मिलता है, वैसा ही मनुष्यका अन्त:करण बन जाता है और उस अन्त:करणके अनुसार ही उसकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा बन जाती है। इसलिये मनुष्यको सदा-सर्वदा सात्त्विक संग, शास्त्र, विचार, वायुमण्डल आदिका ही सेवन करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे उसका अन्त:करण तथा उसके अनुसार उसकी श्रद्धा भी सात्त्विकी बन जायगी, जो उसका उद्धार करनेवाली होगी। इसके विपरीत मनुष्यको राजस-तामस संग, शास्त्र आदिका सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे उसकी श्रद्धा भी राजसी-तामसी बन जायगी, जो उसका पतन करनेवाली होगी।

परिशिष्ट भाव—श्रद्धा भाव है। जैसा जिसका भाव होता है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है। भाव दो तरहका होता है—सद्भाव और असद्भाव। जो परमात्माकी तरफ ले जाता है, वह सद्भाव होता है और जो संसारकी तरफ ले जाता है, वह असद्भाव होता है। दैवी-सम्पत्तिमें सद्भावकी मुख्यता होती है और आसुरी-सम्पत्तिमें असद्भावकी मुख्यता होती है।

'मैं साधक हूँ'—इसमें अगर असद्भावकी मुख्यता हो तो अभिमान होता है और सद्भावकी मुख्यता हो तो स्वाभिमान होता है। अभिमानसे आसुरी-सम्पत्ति आती है और स्वाभिमानसे दैवी-सम्पत्ति आती है। दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखनेसे अभिमान होता है और अपने कर्तव्यको देखनेसे स्वाभिमान होता है कि मैं साधन-विरुद्ध काम कैसे कर सकता हूँ! अभिमान होनेपर तो मनुष्य साधन-विरुद्ध काम कर बैठेगा, पर स्वाभिमान होनेपर उसको साधन-विरुद्ध काम करनेमें लज्जा होगी। स्वाभिमान होनेसे वह सात्त्विकीमें चला जायगा और अभिमान होनेसे वह राजसी-तामसीमें चला जायगा।

सम्बन्ध—अपने इष्टके यजन-पूजनद्वारा मनुष्योंकी निष्ठाकी पहचान किस प्रकार होती है, अब उसको बताते हैं।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

सात्त्विकाः	= सात्त्विक मनुष्य	**यक्षरक्षांसि**	= यक्षों तथा राक्षसोंका	**जनाः**	= मनुष्य हैं, (वे)
देवान्	= देवताओंका	**च**	= और	**प्रेतान्**	= प्रेतों (और)
यजन्ते	= पूजन करते हैं,	**अन्ये**	= दूसरे (जो)	**भूतगणान्**	= भूतगणोंका
राजसाः	= राजस मनुष्य	**तामसाः**	= तामस	**यजन्ते**	= पूजन करते हैं।

व्याख्या—**'यजन्ते सात्त्विका देवान्'**—सात्त्विक अर्थात् दैवी-सम्पत्तिवाले मनुष्य देवोंका पूजन करते हैं। यहाँ **'देवान्'** शब्दसे विष्णु, शंकर, गणेश, शक्ति और सूर्य—ये पाँच ईश्वरकोटिके देवता लेने चाहिये; क्योंकि दैवी-सम्पत्तिमें 'देव' शब्द ईश्वरका वाचक है और उसकी सम्पत्ति अर्थात् दैवी-सम्पत्ति मुक्ति देनेवाली है—**'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'** (१६।५)। वह दैवी-सम्पत्ति जिनमें प्रकट होती है, उन (दैवी-सम्पत्तिवाले) साधकोंकी स्वाभाविक श्रद्धाकी पहचान बतानेके लिये यहाँ **'यजन्ते सात्त्विका देवान्'** पद आये हैं।

ईश्वरकोटिके देवताओंमें भी साधकोंकी श्रद्धा अलग-अलग होती है। किसीकी श्रद्धा भगवान् विष्णु-(राम, कृष्ण, आदि-) में होती है, किसीकी भगवान् शंकरमें होती है, किसीकी भगवान् गणेशमें होती है, किसीकी भगवती शक्तिमें होती है और किसीकी भगवान् सूर्यमें होती है। ईश्वरके जिस रूपमें उनकी स्वाभाविक श्रद्धा होती है, उसीका वे विशेषतासे यजन-पूजन करते हैं।

बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—इन तैंतीस प्रकारके शास्त्रोक्त देवताओंका निष्कामभावसे पूजन करना भी **'यजन्ते सात्त्विका देवान्'**

के अन्तर्गत मानना चाहिये।

'**यक्षरक्षांसि राजसाः**'—राजस मनुष्य यक्षों और राक्षसोंका पूजन करते हैं। यक्ष-राक्षस भी देवयोनिमें हैं। यक्षोंमें धनके संग्रहकी मुख्यता होती है और राक्षसोंमें दूसरोंका नाश करनेकी मुख्यता होती है। अपनी कामना-पूर्तिके लिये और दूसरोंका विनाश करनेके लिये राजस मनुष्योंमें यक्षों और राक्षसोंका पूजन करनेकी प्रवृत्ति होती है।

'**प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः**'—तामस मनुष्य प्रेतों तथा भूतोंका पूजन करते हैं। जो मर गये हैं, उन्हें प्रेत कहते हैं और जो भूतयोनिमें चले गये हैं, उन्हें 'भूत' कहते हैं।

यहाँ 'प्रेत' शब्दके अन्तर्गत जो अपने पितर हैं, उनको नहीं लेना चाहिये; क्योंकि जो अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे अपने-अपने पितरोंका पूजन करते हैं, वे तामस नहीं कहलायेंगे, प्रत्युत सात्त्विक ही कहलायेंगे। अपने-अपने पितरोंके पूजनका भगवान्ने निषेध नहीं किया है—'**पितॄन्यान्ति पितृव्रताः**' (गीता ९। २५)। तात्पर्य है कि जो पितरोंका सकामभावसे पूजन करते हैं कि पितर हमारी रक्षा करेंगे अथवा हम जैसे पिता-पितामह आदिके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि करते हैं, ऐसे ही हमारी कुलपरम्परावाले भी हमारे लिये श्राद्ध-तर्पण आदि करेंगे—ऐसे भावसे पूजन करनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं। परन्तु अपने माता-पिता, दादा-दादी आदि पितरोंका पूजन करनेसे पितरोंको प्राप्त हो जायँगे—यह बात नहीं है। जो पितृऋणसे उऋण होना अपना कर्तव्य समझते हैं और इसीलिये (अपना कर्तव्य समझकर) निष्कामभावसे पितरोंका पूजन करते हैं, वे पुरुष सात्त्विक हैं, राजस नहीं। पितृलोकको वे ही जाते हैं, जो '**पितृव्रताः**' हैं अर्थात् जो पितरोंको सर्वोपरि और अपना इष्ट मानते हैं तथा पितरोंपर ही निष्ठा रखते हैं। ऐसे लोग पितृलोकको तो जा सकते हैं, पर उससे आगे नहीं जा सकते।

कुत्ते, कौए आदिको भी जो निष्कामभावसे रोटी देते हैं (शास्त्रमें ऐसा विधान है), उससे उनकी योनि प्राप्त नहीं होती; क्योंकि वह उनका इष्ट नहीं है। वे तो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं। इसी प्रकार पितरोंका श्राद्ध-तर्पण आदि भी शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार निष्काम-भावपूर्वक करनेसे पितृयोनि प्राप्त नहीं हो जाती। शास्त्र या भगवान्की आज्ञा मानकर करनेसे उनका उद्धार होगा। इसलिये निष्कामभावसे किये गये शास्त्रविहित नारायणबलि, गयाश्राद्ध आदि प्रेतकर्मोंको तामस नहीं मानना चाहिये; क्योंकि ये तो मृत प्राणीकी सद्गतिके लिये किये जानेवाले आवश्यक कर्म हैं, जिन्हें मरे हुए प्राणीके लिये शास्त्रके आज्ञानुसार हरेकको करना चाहिये।

हम शास्त्रविहित यज्ञ आदि शुभ कर्म करते हैं, तो उनमें पहले गणेशजी, नवग्रह, षोडश-मातृका आदिका पूजन शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे करते हैं। यह वास्तवमें नवग्रह आदिका पूजन न होकर शास्त्रका ही पूजन, आदर हुआ। जैसे, स्त्री पतिकी सेवा करती है, तो उसका कल्याण हो जाता है। विवाह तो हरेक पुरुषका हो सकता है, राक्षसका भी और असुरका भी। वे भी पति बन सकते हैं। परन्तु वास्तवमें कल्याण पतिकी सेवासे नहीं होता, प्रत्युत पतिकी सेवा करना—पातिव्रतधर्मका पालन करना ऋषि, शास्त्र, भगवान्की आज्ञा है, इसलिये इनकी आज्ञाके पालनसे ही कल्याण होता है।

देवता आदिके पूजनसे पूजक-(पूजा करनेवाले-) की गति वैसी ही होगी—यह बतानेके लिये यहाँ '**यजन्ते**' पद नहीं आया है। अर्जुनने शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक यजन-पूजन करनेवालोंकी निष्ठा पूछी थी; अतः अपने-अपने इष्ट-(पूज्य-) के अनुसार पूजकोंकी निष्ठा— श्रद्धा होती है, इसकी पहचान बतानेके लिये ही '**यजन्ते**' पद आया है।

परिशिष्ट भाव—देवताओंका पूजन करनेवाले सात्त्विक मनुष्यशरीर छूटनेपर देवताओंको प्राप्त होते हैं, यक्ष-राक्षसोंका पूजन करनेवाले राजस मनुष्य यक्ष-राक्षसोंको प्राप्त होते हैं और भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले तामस मनुष्य भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं (गीता—नवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)।

गीतामें 'यज्ञ' शब्द बहुत व्यापक है, जिसके अन्तर्गत यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म आ जाते हैं' (गीता—चौथे अध्यायका चौबीसवाँ-पचीसवाँ श्लोक)। अतः यहाँ भी '**यजन्ते**' पदके अन्तर्गत सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको लेना चाहिये, जिनमें यज्ञ मुख्य है।

'**प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये**'—हमारे जो पितर हैं, वे दूसरोंके लिये भूत हैं और दूसरेके जो पितर हैं, वे हमारे लिये भूत हैं। पितरोंका पूजन करना तामस नहीं है, पर भूतोंका पूजन करना तामस है।

सम्बन्ध—अबतक उन मनुष्योंकी बात बतायी, जो शास्त्रविधिको न जाननेके कारण उसका (अज्ञतापूर्वक) त्याग करते हैं; परन्तु अपने इष्ट तथा उसके यजन-पूजनमें श्रद्धा रखते हैं। अब, विरोधपूर्वक शास्त्रविधिका त्याग करनेवाले श्रद्धारहित मनुष्योंकी क्रियाओंका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

ये	= जो	**कामराग-**		**माम्**	= मुझ परमात्माको
जनाः	= मनुष्य	**बलान्विताः**	= (जो) भोग-पदार्थ, आसक्ति और हठसे युक्त हैं;	**एव**	= भी
अशास्त्र-				**कर्शयन्तः**	= कृश करनेवाले हैं,
विहितम्	= शास्त्रविधिसे रहित			**तान्**	= उन
घोरम्	= घोर	**शरीरस्थम्**	= (जो) शरीरमें स्थित	**अचेतसः**	= अज्ञानियोंको (तू)
तपः	= तप	**भूतग्रामम्**	= पाँच भूतोंको अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरको	**आसुर-**	
तप्यन्ते	= करते हैं;			**निश्चयान्**	= आसुर निष्ठावाले (आसुरी सम्पत्तिवाले)
दम्भाहङ्कार-					
संयुक्ताः	= (जो) दम्भ और अहंकारसे अच्छी तरह युक्त हैं;	**च**	= तथा		
		अन्तः-			
		शरीरस्थम्	= अन्तःकरणमें स्थित	**विद्धि**	= समझ।

व्याख्या—'**अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः**'—शास्त्रमें जिसका विधान नहीं है, प्रत्युत निषेध है, ऐसे घोर तपको करनेमें उनकी रुचि होती है अर्थात् उनकी रुचि सदा शास्त्रसे विपरीत ही होती है। कारण कि तामसी बुद्धि (गीता—अठारहवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक) होनेसे वे स्वयं तो शास्त्रोंको जानते नहीं और दूसरा कोई बता भी दे तो वे न उसको मानना चाहते हैं तथा न वैसा करना ही चाहते हैं।

'**दम्भाहंकारसंयुक्ताः**'—उनके भीतर यह बात गहरी बैठी हुई रहती है कि आज संसारमें जितने भजन, ध्यान, स्वाध्याय आदि करते हैं, वे सब दम्भ करते हैं, दम्भके बिना दूसरा कुछ है ही नहीं। अतः वे खुद भी दम्भ करते हैं। उनके भीतर अपनी बुद्धिमानीका, चतुराईका, जानकारीका अभिमान रहता है कि हम बड़े जानकार आदमी हैं; हमलोगोंको समझा सकते हैं, उनको रास्तेपर ला सकते हैं; हम शास्त्रोंकी बातें क्यों सुनें? हम कोई कम जानते हैं क्या? हमारी बातें सुनो तो तुम्हारेको पता चले; आदि-आदि।

'**कामरागबलान्विताः**'—'काम' शब्द भोग-पदार्थोंका वाचक है। उन पदार्थोंमें रँग जाना, तल्लीन हो जाना, एकरस हो जाना 'राग' है और उनको प्राप्त करनेका अथवा उनको बनाये रखनेका जो हठ, दुराग्रह है, वह 'बल' है। इनसे वे सदा युक्त रहते हैं। उन आसुर स्वभाववाले लोगोंमें यह भाव रहता है कि मनुष्य-शरीर पाकर इन भोगोंको नहीं भोगा तो मनुष्य-शरीर पशुकी तरह ही है। सांसारिक भोग-सामग्रीको मनुष्यने प्राप्त नहीं किया, तो फिर उसने क्या किया? मनुष्य-शरीर पाकर मनचाही भोग-सामग्री नहीं मिली, तो फिर उसका जीवन ही व्यर्थ है, आदि-आदि। इस प्रकार वे प्राप्त सामग्रीको भोगनेमें सदा तल्लीन रहते हैं और धन-सम्पत्ति आदि भोग-सामग्रीको प्राप्त करनेके लिये हठपूर्वक, जिदसे तप किया करते हैं।

'**कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम्**'—वे शरीरमें स्थित पाँच भूतों-(पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-) को कृश करते हैं, शरीरको सुखाते हैं और इसीको तप समझते हैं। शरीरको कष्ट दिये बिना तप नहीं होता—ऐसी उनकी स्वाभाविक धारणा रहती है।

आगे चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें श्लोकमें जहाँ शरीर, वाणी और मनके तपका वर्णन हुआ है, वहाँ शरीरको कष्ट देनेकी बात नहीं है। वह तप बड़ी शान्तिसे होता है। परन्तु यहाँ जिस तपकी बात है, वह शास्त्रविरुद्ध घोर तप है और अविधिपूर्वक शरीरको कष्ट देकर किया जाता है।

'**मां चैवान्तःशरीरस्थम्**'—भगवान् कहते हैं कि ऐसे लोग अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करते हैं, दुःख देते हैं। कैसे? वे मेरी आज्ञा, मेरे मतके अनुसार नहीं चलते, प्रत्युत उसके विपरीत चलते हैं।

अर्जुनने पूछा था कि वे कौन-सी निष्ठावाले हैं—सात्त्विक हैं कि राजस-तामस? दैवी-सम्पत्तिवाले हैं कि आसुरी-सम्पत्तिवाले? तो भगवान् कहते हैं कि उनको आसुर निश्चयवाले समझो—'**तान्विद्धि आसुरनिश्चयान्।**' यहाँ '**आसुरनिश्चयान्**' पद सामान्य आसुरी-सम्पत्तिवालोंका वाचक नहीं है, प्रत्युत उनमें भी जो अत्यन्त नीच—विशेष नास्तिक हैं, उनका वाचक है।

विशेष बात

चौथे श्लोकमें शास्त्रविधिको न जाननेवाले श्रद्धायुक्त मनुष्योंके द्वारा किये जानेवाले पूजनके लिये '**यजन्ते**' पद आया है; परन्तु यहाँ शास्त्रविधिका त्याग करनेवाले श्रद्धारहित मनुष्योंके द्वारा किये जानेवाले पूजनके लिये '**तप्यन्ते**' पद आया है। इसका कारण यह है कि आसुर निश्चयवाले मनुष्योंकी तप करनेमें ही पूज्य-बुद्धि होती है—तप ही उनका यज्ञ होता है और वे मनगढ़ंत रीतिसे शरीरको कष्ट देनेको ही तप मानते हैं। उनके तपका लक्षण है—शरीरको सुखाना, कष्ट देना। वे तपको बहुत महत्त्व देते हैं, उसे बहुत अच्छा मानते हैं; परन्तु भगवान्‌को, शास्त्रको नहीं मानते। तप भी वही करते हैं, जो शास्त्रके विरुद्ध है। बहुत ज्यादा भूखे रहना, काँटोंपर सोना, उलटे लटकना, एक पैरसे खड़े होना, शास्त्राज्ञासे विरुद्ध अग्नि तपना, अपने शरीर, मन, इन्द्रियोंको किसी तरह कष्ट पहुँचाना आदि—ये सब आसुर निश्चयवालोंके तप होते हैं।

सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें शास्त्रविधिको जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करके दान-सेवा, उपकार आदि शुभकर्मोंको करनेकी बात आयी है, जो इतनी बुरी नहीं है; क्योंकि उनके दान आदि कर्म शास्त्र-विधियुक्त तो नहीं हैं, पर शास्त्रनिषिद्ध भी नहीं हैं। परन्तु यहाँ जो शास्त्रोंमें विहित नहीं हैं, उनको ही श्रेष्ठ मानकर मनमाने ढंगसे विपरीत कर्म करनेकी बात है। दोनोंमें फरक क्या हुआ? तेईसवें श्लोकमें कहे लोगोंको सिद्धि, सुख और परमगति नहीं मिलेगी अर्थात् उनके नाममात्रके शुभकर्मोंका पूरा फल नहीं मिलेगा। परन्तु यहाँ कहे लोगोंको तो नीच योनियों तथा नरकोंकी प्राप्ति होगी; क्योंकि इनमें दम्भ, अभिमान आदि हैं। ये शास्त्रोंको मानते भी नहीं, सुनते भी नहीं और कोई सुनाना चाहे तो सुनना चाहते भी नहीं।

सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें शास्त्रका 'उपेक्षा-पूर्वक' त्याग है, इसी अध्यायके पहले श्लोकमें शास्त्रका 'अज्ञतापूर्वक' त्याग है और यहाँ शास्त्रका 'विरोधपूर्वक' त्याग है। आगे तामस यज्ञादिमें भी शास्त्रकी उपेक्षा है। परन्तु यहाँ श्रद्धा, शास्त्रविधि, प्राणिसमुदाय और भगवान्—इन चारोंके साथ विरोध है। ऐसा विरोध दूसरी जगह आये राजसी-तामसी वर्णनमें नहीं है।

सम्बन्ध—अगर कोई मनुष्य किसी प्रकार भी यजन न करे, तो उसकी श्रद्धा कैसे पहचानी जायगी—इसे बतानेके लिये भगवान् आहारकी रुचिसे आहारीकी निष्ठाकी पहचानका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आहारः	= आहार	**तथा**	= वैसे ही		लेकर तीन प्रकारकी रुचि होती है,)
अपि	= भी	**यज्ञः**	= यज्ञ,	**तेषाम्**	= (तू) उनके
सर्वस्य	= सबको	**तपः**	= तप (और)	**इमम्**	= इस
त्रिविधः	= तीन प्रकारका	**दानम्**	= दान (भी तीन प्रकारके होते हैं अर्थात् शास्त्रीय कर्मोंमें भी गुणोंको	**भेदम्**	= भेदको
प्रियः	= प्रिय			**शृणु**	= सुन।
भवति	= होता है				
तु	= और				

व्याख्या—'**आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः**'—चौथे श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्नके अनुसार मनुष्योंकी निष्ठाकी परीक्षाके लिये सात्त्विक, राजस और तामस—तीन तरहके यजन बताये। परन्तु जिसकी श्रद्धा, रुचि, प्रियता यजन-पूजनमें नहीं है, उनकी निष्ठाकी पहचान कैसे हो ? इसके लिये बताया कि जिनकी यजन-पूजनमें श्रद्धा नहीं है, ऐसे मनुष्योंको भी शरीर-निर्वाहके लिये भोजन तो करना ही पड़ता है, चाहे वे नास्तिक हों, चाहे आस्तिक हों, चाहे वैदिक अथवा ईसाई, पारसी, यहूदी, यवन आदि किसी सम्प्रदायके हों। उन सबके लिये यहाँ '**आहारस्त्वपि**' पद देकर कहा है कि निष्ठाकी पहचानके लिये केवल यजन-पूजन ही नहीं है, प्रत्युत भोजनकी रुचिसे ही उनकी निष्ठाकी पहचान हो जायगी।

मनुष्यका मन स्वाभाविक ही जिस भोजनमें ललचाता है अर्थात् जिस भोजनकी बात सुनकर, उसे देखकर और उसे चखकर मन आकृष्ट होता है, उसके अनुसार उसकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी निष्ठा मानी जाती है।

यहाँ कोई ऐसा भी कह सकता है कि सात्त्विक, राजस और तामस आहार कैसा-कैसा होता है—इसे बतानेके लिये यह प्रकरण आया है। स्थूलदृष्टिसे देखनेपर तो ऐसा ही दीखता है; परन्तु विचारपूर्वक गहराईसे देखनेपर यह बात दीखती नहीं। वास्तवमें यहाँ आहारका वर्णन नहीं है, प्रत्युत आहारीकी रुचिका वर्णन है। अतः आहारीकी श्रद्धाकी पहचान कैसे हो ? यह बतानेके लिये ही यह प्रकरण आया है।

यहाँ '**सर्वस्य**' और '**प्रियः**' पद यह बतानेके लिये आये हैं कि सामान्यरूपसे सम्पूर्ण मनुष्योंमें एक-एककी किस-किस भोजनमें रुचि होती है, जिससे उनकी सात्त्विकी, राजसी और तामसी निष्ठाकी पहचान हो। ऐसे ही '**यज्ञस्तपस्तथा दानम्**'[1] पद यह बतानेके लिये आये हैं कि जितने भी शास्त्रीय कर्म हैं, उनमें भी उन मनुष्योंकी यज्ञ, तप आदि किस-किस कर्ममें कैसी-कैसी रुचि—प्रियता होती है। यहाँ '**तथा**' कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे पूजन तीन तरहका होता है और जैसे आहार तीन तरहका प्रिय होता है, इसी तरह शास्त्रीय यज्ञ, तप आदि कर्म भी तीन तरहके होते हैं। इससे यहाँ एक और बात भी सिद्ध होती है कि शास्त्र, सत्संग, विवेचन, वार्तालाप, कहानी, पुस्तक, व्रत, तीर्थ, व्यक्ति आदि जो-जो भी सामने आयेंगे, उनमें जो सात्त्विक होगा वह सात्त्विक मनुष्यको, जो राजस होगा, वह राजस मनुष्यको और जो तामस होगा, वह तामस मनुष्यको प्रिय लगेगा।

'**तेषां भेदमिमं शृणु**'—यज्ञ, तप और दानके भेद सुनो अर्थात् मनुष्यकी स्वाभाविक रुचि, प्रवृत्ति और प्रसन्नता किस-किसमें होती है, उसको तुम सुनो। जैसे अपनी रुचिके अनुसार कोई ब्राह्मणको दान देना पसंद करता है, तो कोई अन्य साधारण मनुष्यको दान देना ही पसंद करता है। कोई शुद्ध आचरणवाले व्यक्तियोंके साथ मित्रता करते हैं, तो कोई जिनका खान-पान, आचरण आदि शुद्ध नहीं हैं, ऐसे मनुष्योंके साथ ही मित्रता करते हैं, आदि-आदि[2]।

तात्पर्य यह कि सात्त्विक मनुष्योंकी रुचि सात्त्विक खान-पान, रहन-सहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदिमें होती है और उन्हींका संग करना उनको अच्छा लगता है। राजस मनुष्योंकी रुचि राजस खान-पान, रहन-सहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदिमें होती है और उन्हींका संग उनको अच्छा लगता है। तामस मनुष्योंकी रुचि तामस खान-पान, रहन-सहन आदिमें तथा शास्त्रनिषिद्ध आचरण करनेवाले नीच मनुष्योंके साथ उठने-बैठने, खाने-पीने, बातचीत करने, साथ रहने, मित्रता करने आदिमें होती है और उन्हींका संग उनको अच्छा लगता है तथा वैसे ही आचरणोंमें उनकी प्रवृत्ति होती है।

परिशिष्ट भाव—मनुष्यके द्वारा स्वभावसे होनेवाली क्रियाएँ दो प्रकारकी होती हैं—व्यावहारिक और शास्त्रीय। अतः यहाँ 'आहार'के अन्तर्गत व्यावहारिक (खान-पान, रहन-सहन आदि) और 'यज्ञ-तप-दान' के अन्तर्गत शास्त्रीय क्रियाओंको समझना चाहिये।

१-यद्यपि यहाँ 'यज्ञ' शब्द होमरूप यज्ञका ही वाचक है, सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंका नहीं (क्योंकि यज्ञके साथ तप और दान अलगसे आये हैं), तथापि गौणतासे तीर्थ, व्रत आदि कर्तव्य-कर्म भी लिये जा सकते हैं।

२-मृगा मृगैः संगमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः। मूर्खाश्च मूर्खैः सुधयः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम्॥

(पंचतन्त्र, मित्रभेद ३०५)

'जिस प्रकार पशुओंमें हरिण हरिणोंके साथ, गायें गायोंके साथ, घोड़े घोड़ोंके साथ ही चलते-फिरते हैं, उसी प्रकार मनुष्योंमें भी मूर्ख मूर्खोंके साथ और विद्वान् विद्वानोंके साथ मित्रता आदिका व्यवहार करते हैं; क्योंकि मित्रता समान स्वभाव, आचरण आदिमें ही होती है।'

आयु:सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयु:सत्त्व-बलारोग्य-सुखप्रीति-विवर्धनाः = आयु, सत्त्वगुण, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले, **स्थिराः** = स्थिर रहनेवाले, **हृद्याः** = हृदयको शक्ति देनेवाले, **रस्याः** = रसयुक्त (तथा) **स्निग्धाः** = चिकने— **आहाराः** = (ऐसे) आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ **सात्त्विकप्रियाः** = सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं।

व्याख्या—‘**आयुः**’—जिन आहारोंके करनेसे मनुष्यकी आयु बढ़ती है; ‘**सत्त्वम्**’—सत्त्वगुण बढ़ता है; ‘**बलम्**’—शरीर, मन, बुद्धि आदिमें सात्त्विक बल एवं उत्साह पैदा होता है; ‘**आरोग्यः**’—शरीरमें नीरोगता बढ़ती है; ‘**सुखम्**’—सुख-शान्ति प्राप्त होती है; और ‘**प्रीतिविवर्धनाः**’—जिनको देखनेसे ही प्रीति पैदा होती है*, वे अच्छे लगते हैं।

इस प्रकारके ‘**स्थिराः**’—जो गरिष्ठ नहीं, प्रत्युत सुपाच्य हैं और जिनका सार बहुत दिनतक शरीरमें शक्ति देता रहता है; और ‘**हृद्याः**’—हृदय, फेफड़े आदिको शक्ति देनेवाले तथा बुद्धि आदिमें सौम्य भाव लानेवाले; ‘**रस्याः**’—फल, दूध, खाँड़ आदि रसयुक्त पदार्थ; ‘**स्निग्धाः**’—घी, मक्खन, बादाम, काजू, किशमिश, सात्त्विक पदार्थोंसे निकले हुए तेल आदि स्नेहयुक्त भोजनके पदार्थ, जो अच्छे पके हुए तथा ताजे हैं।

‘**आहाराः सात्त्विकप्रियाः**’—ऐसे भोजनके (भोज्य, पेय, लेह्य और चोष्य) पदार्थ सात्त्विक मनुष्यको प्यारे लगते हैं। अतः ऐसे आहारमें रुचि होनेसे उसकी पहचान हो जाती है कि यह मनुष्य सात्त्विक है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कट्वम्ल-लवणात्युष्ण-तीक्ष्णरूक्ष-विदाहिनः = अति कड़वे, अति खट्टे, अति नमकीन, अति गरम, अति तीखे, अति रूखे और अति दाहकारक **आहाराः** = आहार अर्थात् भोजनके पदार्थ **राजसस्य** = राजस मनुष्यको **इष्टाः** = प्रिय होते हैं, (जो कि) **दुःखशोकामय-प्रदाः** = दुःख, शोक और रोगोंको देनेवाले हैं।

व्याख्या—‘**कटु**’—करेला, ग्वारपाठा आदि अधिक कड़वे पदार्थ; ‘**अम्ल**’—इमली, अमचूर, नींबू, छाछ, सड़न पैदा करके बनाया गया सिरका आदि अधिक खट्टे पदार्थ; ‘**लवणम्**’—अधिक नमकवाले पदार्थ; ‘**अत्युष्णम्**’—जिनसे भाप निकल रही हो, ऐसे अत्यन्त गरम-गरम पदार्थ; ‘**तीक्ष्णम्**’—जिनको खानेसे नाक, आँख, मुख और सिरसे पानी आने लगे, ऐसे लाल मिर्च आदि अधिक तीखे पदार्थ; ‘**रूक्षम्**’—जिनमें घी, दूध आदिका सम्बन्ध नहीं है, ऐसे भुने हुए चने, सतुआ आदि अधिक रूखे पदार्थ और ‘**विदाहिनः**’—राई आदि अधिक दाहकारक पदार्थ (राईको दो-तीन घंटे छाछमें भिगोकर रखा जाय, तो उसमें एक खमीर पैदा होता है, जो बहुत दाहकारक होता है)।

‘**आहारा राजसस्येष्टाः**’—इस प्रकारके भोजनके

---

* ऐसे तो अनुकूल आहार मिलनेपर राजस पुरुषको भी प्रीति होगी, पर वह प्रीति परिणाममें विष हो जायगी (अठारहवें अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। ऐसे ही तामस पुरुषको भी प्रीति होगी, पर वह प्रीति परिणाममें उसको मूढ़तामें अर्थात् अतिनिद्रा, आलस्य और प्रमाद (खेल-तमाशे, व्यर्थ बकवाद, दुर्व्यसन आदि) में लगा देगी (अठारहवें अध्यायका उन्तालीसवाँ श्लोक)।

(भोज्य, पेय, लेह्य और चोष्य) पदार्थ राजस मनुष्यको प्यारे होते हैं। इससे उसकी निष्ठाकी पहचान हो जाती है।

'दुःखशोकामयप्रदाः'—परन्तु ऐसे पदार्थ परिणाममें दुःख, शोक और रोगोंको देनेवाले होते हैं। खट्टा, तीखा और दाहकारक भोजन करते समय मुख आदिमें जो जलन होती है, यह दुःख है। भोजन करनेके बाद मनमें प्रसन्नता नहीं होती, प्रत्युत स्वाभाविक चिन्ता रहती है, यह शोक है। ऐसे भोजनसे शरीरमें प्रायः रोग होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

यत्	= जो	**पर्युषितम्**	= बासी		(मांस आदि)
भोजनम्	= भोजन	**च**	= और	**अपि**	= भी है, (वह)
यातयामम्	= सड़ा हुआ,	**उच्छिष्टम्**	= जूठा है	**तामसप्रियम्**	= तामस मनुष्यको प्रिय होता है।
गतरसम्	= रसरहित,	**च**	= तथा (जो)		
पूति	= दुर्गन्धित,	**अमेध्यम्**	= महान् अपवित्र		

व्याख्या—**'यातयामम्'**—पकनेके लिये जिनको पूरा समय प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे अधपके या उचित समयसे ज्यादा पके हुए अथवा जिनका समय बीत गया है, ऐसे बिना ऋतुके पैदा किये हुए एवं ऋतु चली जानेपर फ्रिज आदिकी सहायतासे रखे हुए साग, फल आदि भोजनके पदार्थ।

'गतरसम्'—धूप आदिसे जिनका स्वाभाविक रस सूख गया है अथवा मशीन आदिसे जिनका सार खींच लिया गया है, ऐसे दूध, फल आदि।

'पूति'—सड़नसे पैदा की गयी मदिरा[1] और स्वाभाविक दुर्गन्धवाले प्याज, लहसुन आदि।

'पर्युषितम्'—जल और नमक मिलाकर बनाये हुए साग, रोटी आदि पदार्थ रात बीतनेपर बासी कहलाते हैं। परन्तु केवल शुद्ध दूध, घी, चीनी आदिसे बने हुए अथवा अग्निपर पकाये हुए पेड़ा, जलेबी, लड्डू आदि जो पदार्थ हैं, उनमें जबतक विकृति नहीं आती, तबतक वे बासी नहीं माने जाते। ज्यादा समय रहनेपर उनमें विकृति (दुर्गन्ध आदि) पैदा होनेसे वे भी बासी कहे जायँगे।

'उच्छिष्टम्'—भुक्तावशेष अर्थात् भोजनके बाद पात्रमें बचा हुआ अथवा जूठा हाथ लगा हुआ और जिसको गाय, बिल्ली, कुत्ता, कौआ आदि पशु-पक्षी देख ले, सूँघ ले या खा ले—वह सब जूठन माना जाता है।

'अमेध्यम्'—रज-वीर्यसे पैदा हुए मांस, मछली, अंडा आदि महान् अपवित्र पदार्थ, जो मुर्दा हैं और जिनको छूनेमात्रसे स्नान करना पड़ता है।[2]

'अपि च'—इन अव्ययोंके प्रयोगसे उन सब पदार्थोंको ले लेना चाहिये, जो शास्त्रनिषिद्ध हैं। जिस वर्ण, आश्रमके

१-मदिरापान करनेवालेको शास्त्रोंमें महापापी कहा गया है—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तैरिति। (छान्दोग्योपनिषद् ५। १०। ९)

अर्थात् स्वर्णकी चोरी करनेवाला, मदिरा (शराब) पीनेवाला, गुरुपत्नीगमन करनेवाला, ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला—ये चारों महापापी हैं और इनका संग करनेवाला पाँचवाँ महापापी है।

इससे सिद्ध होता है कि मदिरापान सर्वथा निन्दनीय, मांसाहारसे भी अधिक निन्दनीय और पतन करनेवाला है।

गंगाजी सबको शुद्ध करनेवाली हैं। परन्तु यदि गंगाजीमें मदिराका पात्र डाल दिया जाय तो वह शुद्ध नहीं होता। जब मदिराका पात्र भी (जिसमें मदिरा डाली जाती है) इतना अशुद्ध हो जाता है, तब मदिरा पीनेवाला कितना अशुद्ध हो जाता होगा—इसका कोई ठिकाना नहीं है।

मदिराके निर्माणमें असंख्य जीवोंकी हत्या होती है। मदिरापानसे होनेवाली सबसे भयंकर हानि यह है कि इससे अन्तःकरणमें रहनेवाले धर्मके अंकुर नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य है कि मनुष्यके भीतर जो धार्मिक भावनाएँ रहती हैं, धर्मकी रुचि, संस्कार रहते हैं, उनको मदिरापान नष्ट कर देता है। इससे मनुष्य महान् पतनकी तरफ चला जाता है।

२-यहाँ तामस भोजनमें 'अमेध्य' शब्दका प्रयोग करके भगवान् मानो इन चीजोंका नाम भी लेना नहीं चाहते।

लिये जिन-जिन पदार्थोंका निषेध है, उस वर्ण-आश्रमके लिये उन-उन पदार्थोंको निषिद्ध माना गया है; जैसे मसूर, गाजर, शलगम आदि।

'**भोजनं तामसप्रियम्**'—ऐसा भोजन तामस मनुष्यको प्रिय लगता है। इससे उसकी निष्ठाकी पहचान हो जाती है।

उपर्युक्त भोजनोंमेंसे सात्त्विक भोजन भी अगर रागपूर्वक खाया जाय, तो वह राजस हो जाता है और लोलुपतावश अधिक खाया जाय, (जिससे अजीर्ण आदि हो जाय) तो वह तामस हो जाता है। ऐसे ही भिक्षुकको विधिसे प्राप्त भिक्षा आदिमें रूखा, सूखा, तीखा और बासी भोजन प्राप्त हो जाय, जो कि राजस-तामस है, पर वह उसको भगवान्‌के भोग लगाकर भगवन्नाम लेते हुए स्वल्पमात्रामें* खाये, तो वह भोजन भी भाव और त्यागकी दृष्टिसे सात्त्विक हो जाता है।

प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात

चार श्लोकोंके इस प्रकरणमें तीन तरहके—सात्त्विक, राजस और तामस आहारका वर्णन दीखता है; परन्तु वास्तवमें यहाँ आहारका प्रसंग नहीं है, प्रत्युत 'आहारी' की रुचिका प्रसंग है। इसलिये यहाँ 'आहारी' की रुचिका ही वर्णन हुआ है—इसमें निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैं—

(१) सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें आये '**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः**' पदोंको लेकर अर्जुनने प्रश्न किया कि मनमाने ढंगसे श्रद्धापूर्वक काम करनेवालोंकी निष्ठाकी पहचान कैसे हो? तो भगवान्‌ने इस अध्यायके दूसरे श्लोकमें श्रद्धाके तीन भेद बताकर तीसरे श्लोकमें '**सर्वस्य**' पदसे मनुष्यमात्रकी अन्तःकरणके अनुरूप श्रद्धा बतायी और चौथे श्लोकमें पूज्यके अनुसार पूजककी निष्ठाकी पहचान बतायी। सातवें श्लोकमें उसी '**सर्वस्य**' पदका प्रयोग करके भगवान् यह बताते हैं कि मनुष्यमात्रको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार तीन तरहका भोजन प्रिय होता है—'**आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।**' उस प्रियतासे ही मनुष्यकी निष्ठा-(स्थिति-) की पहचान हो जायगी।

'**प्रियः**' शब्द केवल सातवें श्लोकमें ही नहीं आया है, प्रत्युत आठवें श्लोकमें '**सात्त्विकप्रियाः**' नवें श्लोकमें '**राजसस्येष्टाः**' और दसवें श्लोकमें '**तामसप्रियम्**' में भी 'प्रिय' और 'इष्ट' शब्द आये हैं, जो रुचिके वाचक हैं। यदि यहाँ आहारका ही वर्णन होता तो भगवान् प्रिय और इष्ट शब्दोंका प्रयोग न करके ये सात्त्विक आहार हैं, ये राजस आहार हैं, ये तामस आहार हैं—ऐसे पदोंका प्रयोग करते।

(२) दूसरी प्रबल युक्ति यह है कि सात्त्विक आहारमें पहले '**आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः**' पदोंसे भोजनका फल बताकर बादमें भोजनके पदार्थोंका वर्णन किया। कारण कि सात्त्विक मनुष्य भोजन करने आदि किसी भी कार्यमें विचारपूर्वक प्रवृत्त होता है, तो उसकी दृष्टि सबसे पहले उसके परिणामपर जाती है।

रागी होनेसे राजस मनुष्यकी दृष्टि सबसे पहले भोजनपर ही जाती है, इसलिये राजस आहारके वर्णनमें पहले भोजनके पदार्थोंका वर्णन करके बादमें '**दुःखशोकामयप्रदाः**' पदसे उसका फल बताया है। तात्पर्य यह कि राजस मनुष्य अगर आरम्भमें ही भोजनके परिणामपर विचार करेगा, तो फिर उसे राजस भोजन करनेमें हिचकिचाहट होगी; क्योंकि परिणाममें मुझे दुःख, शोक और रोग हो जायँ—ऐसा कोई मनुष्य नहीं चाहता। परन्तु राग होनेके कारण राजस पुरुष परिणामपर विचार करता ही नहीं।

सात्त्विक भोजनका फल पहले और राजस भोजनका फल पीछे बताया गया; परन्तु तामस भोजनका फल बताया ही नहीं गया। कारण कि मूढ़ता होनेके कारण तामस मनुष्य भोजन और उसके परिणामपर विचार करता ही नहीं। भोजन न्याययुक्त है या नहीं, उसमें हमारा अधिकार है या नहीं, शास्त्रोंकी आज्ञा है या नहीं और परिणाममें हमारे मन-बुद्धिके बलको बढ़ानेमें हेतु है या नहीं—इन बातोंका कुछ भी विचार न करके तामस मनुष्य पशुकी तरह खानेमें प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य है कि सात्त्विक भोजन करनेवाला तो दैवी-सम्पत्तिवाला होता है और राजस तथा तामस भोजन करनेवाला आसुरी-सम्पत्तिवाला होता है।

(३) यदि भगवान्‌को यहाँ आहारका ही वर्णन करना होता, तो वे आहारकी विधिका और उसके लिये कर्मोंकी शुद्धि-अशुद्धिका वर्णन करते; जैसे—

शुद्ध कमाईके पैसोंसे अनाज आदि पवित्र खाद्य पदार्थ खरीदे जायँ; रसोईमें चौका देकर और स्वच्छ वस्त्र पहनकर

*** स्वल्पमात्रामें खानेका तात्पर्य यह है कि भोजन करनेके बाद पेट याद न आये; क्योंकि पेट दो कारणोंसे याद आता है—अधिक खानेपर और बहुत कम खानेपर।**

पवित्रतापूर्वक भोजन बनाया जाय; भोजनको भगवान्‌के अर्पण किया जाय और भगवान्‌का चिन्तन तथा उनके नामका जप करते हुए प्रसाद-बुद्धिसे भोजन ग्रहण किया जाय—ऐसा भोजन सात्त्विक होता है।

स्वार्थ और अभिमानकी मुख्यताको लेकर सत्य-असत्यका कोई विचार न करते हुए पैसे कमाये जायँ; स्वाद, शरीरकी पुष्टि, भोग भोगनेकी सामर्थ्य बढ़ाने आदिका उद्‌देश्य रखकर भोजनके पदार्थ खरीदे जायँ; जिह्वाको स्वादिष्ट लगें और दीखनेमें भी सुन्दर दीखें—इस दृष्टिसे, रीतिसे उनको बनाया जाय; और आसक्तिपूर्वक खाया जाय—ऐसा भोजन राजस होता है।

झूठ-कपट, चोरी, डकैती, धोखेबाजी आदि किसी तरहसे पैसे कमाये जायँ; अशुद्धि-शुद्धिका कुछ भी विचार न करके मांस, अंडे आदि पदार्थ खरीदे जायँ; विधि-विधानका कोई खयाल न करके भोजन बनाया जाय और बिना हाथ-पैर धोये एवं चप्पल-जूती पहनकर ही अशुद्ध वायुमण्डलमें उसे खाया जाय—ऐसा भोजन तामस होता है।

परन्तु भगवान्‌ने यहाँ केवल सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषोंको प्रिय लगनेवाले खाद्य पदार्थोंका वर्णन किया है, जिससे उनकी रुचिकी पहचान हो जाय।

(४) इसके सिवाय गीतामें जहाँ-जहाँ आहारकी बात आयी है, वहाँ-वहाँ आहारीका ही वर्णन हुआ है; जैसे—'**नियताहाराः**' (४। ३०) पदमें नियमित आहार करनेवालेका, '**नात्यश्नतस्तु**' और '**युक्ताहारविहारस्य**' (६।१६-१७) पदोंमें अधिक खानेवाले और नियत खानेवालोंका; '**यदश्नासि**' (९। २७) पदमें भोजनके पदार्थको भगवान्‌के अर्पण करनेवालेका, और '**लघ्वाशी**' (१८।५२) पदमें अल्प भोजन करनेवालोंका वर्णन हुआ है।

इसी प्रकार इस अध्यायके सातवें श्लोकमें '**यज्ञस्तपस्तथा दानम्**' पदोंमें आया '**तथा**' (वैसे ही) पद यह कह रहा है कि जो मनुष्य यज्ञ, तप, दान आदि कार्य करते हैं, वे भी अपनी-अपनी (सात्त्विक, राजस अथवा तामस) रुचिके अनुसार ही कार्य करते हैं। आगे ग्यारहवेंसे बाईसवें श्लोकतकका जो प्रकरण है, उसमें भी यज्ञ, तप और दान करनेवालोंके स्वभावका ही वर्णन हुआ है।

भोजनके लिये आवश्यक विचार

उपनिषदोंमें आता है कि जैसा अन्न होता है, वैसा ही मन बनता है—'**अन्नमयं हि सोम्य मनः।**' (छान्दोग्य० ६।५।४) अर्थात् अन्नका असर मनपर पड़ता है। अन्नके सूक्ष्म सारभागसे मन (अन्तःकरण) बनता है, दूसरे नम्बरके भागसे वीर्य, तीसरे नम्बरके भागसे रक्त आदि और चौथे नम्बरके स्थूल भागसे मल बनता है, जो कि बाहर निकल जाता है। अतः मनको शुद्ध बनानेके लिये भोजन शुद्ध, पवित्र होना चाहिये। भोजनकी शुद्धिसे मन-(अन्तःकरण-)की शुद्धि होती है—'**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**' (छान्दोग्य० ७। २६। २)। जहाँ भोजन करते हैं, वहाँका स्थान, वायुमण्डल, दृश्य तथा जिसपर बैठकर भोजन करते हैं, वह आसन भी शुद्ध, पवित्र होना चाहिये। कारण कि भोजन करते समय प्राण जब अन्न ग्रहण करते हैं, तब वे शरीरके सभी रोमकूपोंसे आसपासके परमाणुओंको भी खींचते—ग्रहण करते हैं। अतः वहाँका स्थान, वायुमण्डल आदि जैसे होंगे, प्राण वैसे ही परमाणु खींचेंगे और उन्हींके अनुसार मन बनेगा। भोजन बनानेवालेके भाव, विचार भी शुद्ध सात्त्विक हों।

भोजनके पहले दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—ये पाँचों शुद्ध, पवित्र जलसे धो ले। फिर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके शुद्ध आसनपर बैठकर भोजनकी सब चीजोंको '**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥**' (गीता ९।२६)— यह श्लोक पढ़कर भगवान्‌के अर्पण कर दे। अर्पणके बाद दायें हाथमें जल लेकर '**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥**' (गीता ४। २४)—यह श्लोक पढ़कर आचमन करे और भोजनका पहला ग्रास भगवान्‌का नाम लेकर ही मुखमें डाले। प्रत्येक ग्रासको चबाते समय '**हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥**'

—इस मन्त्रको मनसे दो बार पढ़ते हुए या अपने इष्टका नाम लेते हुए ग्रासको चबाये और निगले। इस मन्त्रमें कुल सोलह नाम हैं और दो बार मन्त्र पढ़नेसे बत्तीस नाम हो जाते हैं। हमारे मुखमें भी बत्तीस ही दाँत हैं। अतः (मन्त्रके प्रत्येक नामके साथ) बत्तीस बार चबानेसे वह भोजन सुपाच्य और आरोग्यदायक होता है एवं थोड़े अन्नसे ही तृप्ति हो जाती है तथा उसका रस भी अच्छा बनता है और इसके साथ ही भोजन भी भजन बन जाता है।

भोजन करते समय ग्रास-ग्रासमें भगवन्नाम-जप करते रहनेसे अन्नदोष भी दूर हो जाता है*।

* **कवले कवले कुर्वन् रामनामानुकीर्तनम्। यः कश्चित् पुरुषोऽश्नाति सोऽन्नदोषैर्न लिप्यते॥**

जो लोग ईर्ष्या, भय और क्रोधसे युक्त हैं तथा लोभी हैं, और रोग तथा दीनतासे पीड़ित और द्वेषयुक्त हैं, वे जिस भोजनको करते हैं, वह अच्छी तरह पचता नहीं अर्थात् उससे अजीर्ण हो जाता है*। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह भोजन करते समय मनको शान्त तथा प्रसन्न रखे। मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषोंकी वृत्तियोंको न आने दे। यदि कभी आ जायँ तो उस समय भोजन न करे; क्योंकि वृत्तियोंका असर भोजनपर पड़ता है और उसीके अनुसार अन्त:करण बनता है। ऐसा भी सुननेमें आया है कि फौजी लोग जब गायको दुहते हैं, तब दुहनेसे पहले बछड़ा छोड़ते हैं और उस बछड़ेके पीछे कुत्ता छोड़ते हैं। अपने बछड़ेके पीछे कुत्तेको देखकर जब गाय गुस्सेमें आ जाती है, तब बछड़ेको लाकर बाँध देते हैं और फिर गायको दुहते हैं। वह दूध फौजियोंको पिलाते हैं, जिससे वे लोग खूँखार बनते हैं।

ऐसे ही दूधका भी असर प्राणियोंपर पड़ता है। एक बार किसीने परीक्षाके लिये कुछ घोड़ोंको भैंसका दूध और कुछ घोड़ोंको गायका दूध पिलाकर उन्हें तैयार किया। एक दिन सभी घोड़े कहीं जा रहे थे। रास्तेमें नदीका जल था। भैंसका दूध पीनेवाले घोड़े उस जलमें बैठ गये और गायका दूध पीनेवाले घोड़े उस जलको पार कर गये। इसी प्रकार बैल और भैंसेका परस्पर युद्ध कराया जाय, तो भैंसा बैलको मार देगा; परन्तु यदि दोनोंको गाड़ीमें जोता जाय, तो भैंसा धूपमें जीभ निकाल देगा, जबकि बैल धूपमें भी चलता रहेगा। कारण कि भैंसके दूधमें सात्त्विक बल नहीं होता, जबकि गायके दूधमें सात्त्विक बल होता है।

जैसे प्राणियोंकी वृत्तियोंका पदार्थोंपर असर पड़ता है, ऐसे ही प्राणियोंकी दृष्टिका भी असर पड़ता है। बुरे व्यक्तिकी अथवा भूखे कुत्तेकी दृष्टि भोजनपर पड़ जाती है, तो वह भोजन अपवित्र हो जाता है। अब वह भोजन पवित्र कैसे हो? भोजनपर उसकी दृष्टि पड़ जाय, तो उसे देखकर मनमें प्रसन्न हो जाना चाहिये कि भगवान् पधारे हैं! अत: उसको सबसे पहले थोड़ा अन्न देकर भोजन करा दे। उसको देनेके बाद बचे हुए शुद्ध अन्नको स्वयं ग्रहण करे, तो दृष्टिदोष मिट जानेसे वह अन्न पवित्र हो जाता है।

दूसरी बात, लोग बछड़ेको पेटभर दूध न पिलाकर सारा दूध स्वयं दुह लेते हैं। वह दूध पवित्र नहीं होता; क्योंकि उसमें बछड़ेका हक आ जाता है। बछड़ेको पेटभर दूध पिला दे; और इसके बाद जो दूध निकले, वह चाहे पावभर ही क्यों न हो, बहुत पवित्र होता है।

भोजन करनेवाले और करानेवालेके भावका भी भोजनपर असर पड़ता है; जैसे—(१) भोजन करनेवालेकी अपेक्षा भोजन करानेवालेकी जितनी अधिक प्रसन्नता होगी, वह भोजन उतने ही उत्तम दर्जेका माना जायगा। (२) भोजन करानेवाला तो बड़ी प्रसन्नतासे भोजन कराता है; परन्तु भोजन करनेवाला 'मुफ्तमें भोजन मिल गया; अपने इतने पैसे बच गये; इससे मेरेमें बल आ जायगा' आदि स्वार्थका भाव रख लेता है, तो वह भोजन मध्यम दर्जेका हो जाता है, और (३) भोजन करानेवालेका यह भाव है कि 'यह घरपर आ गया, तो खर्चा करना पड़ेगा, भोजन बनाना पड़ेगा, भोजन कराना ही पड़ेगा' आदि और भोजन करनेवालेमें भी स्वार्थभाव है, तो वह भोजन निकृष्ट दर्जेका हो जायगा।

इस विषयमें गीताने सिद्धान्तरूपसे कह दिया है—**'सर्वभूतहिते रता:'** (५। २५, १२। ४)। तात्पर्य यह है कि जिसका सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव जितना अधिक होगा, उसके पदार्थ, क्रियाएँ आदि उतनी ही पवित्र हो जायँगी।

भोजनके अन्तमें आचमनके बाद ये श्लोक पढ़ने चाहिये—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभव:।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ: कर्मसमुद्भव:॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

(गीता ३। १४-१५)

फिर भोजनके पाचनके लिये **'अहं वैश्वानरो भूत्वा०'** (गीता १५। १४) श्लोक पढ़ते हुए मध्यमा अंगुलीसे नाभिको धीरे-धीरे घुमाना चाहिये।

---

* **ईर्ष्याभयक्रोधसमन्वितेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन। विद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति॥**
(भावप्रकाश-दिनचर्याप्रकरण ५।२२८)

सम्बन्ध—पहले यजन-पूजन और भोजनके द्वारा जो श्रद्धा बतायी, उससे शास्त्रविधिका अज्ञतापूर्वक त्याग करनेवालोंकी स्वाभाविक निष्ठा—रुचिकी तो पहचान हो जाती है; परन्तु जो मनुष्य व्यापार, खेती आदि जीविकाके कार्य करते हैं अथवा शास्त्रविहित यज्ञादि शुभकर्म करते हैं, उनकी स्वाभाविक रुचिकी पहचान कैसे हो—यह बतानेके लिये यज्ञ, तप और दानके तीन-तीन भेदोंका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

अफलाकाङ्‌क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

यष्टव्यम्, एव	= यज्ञ करना ही कर्तव्य है		करके	**यज्ञः**	= यज्ञ
इति	= —इस तरह	**अफलाकाङ्‌क्षिभिः**	= फलेच्छारहित मनुष्योंद्वारा	**इज्यते**	= किया जाता है,
मनः	= मनको	**यः**	= जो	**सः**	= वह
समाधाय	= समाधान (सन्तुष्ट)	**विधिदृष्टः**	= शास्त्रविधिसे नियत	**सात्त्विकः**	= सात्त्विक है।

व्याख्या—‘**यष्टव्यमेवेति**’—जब मनुष्य-शरीर मिल गया और अपना कर्तव्य करनेका अधिकार भी प्राप्त हो गया, तो अपने वर्ण-आश्रममें शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार यज्ञ करनामात्र मेरा कर्तव्य है। ‘**एव इति**’—ये दो अव्यय लगानेका तात्पर्य है कि इसके सिवाय दूसरा कोई भाव न रखे अर्थात् इस यज्ञसे लोकमें और परलोकमें मेरेको क्या मिलेगा? इससे मेरेको क्या लाभ होगा?—ऐसा भाव भी न रहे, केवल कर्तव्यमात्र रहे।

जब उससे कुछ मिलनेकी आशा ही नहीं रखनी है, तो फिर (फलेच्छाका त्याग करके) यज्ञ करनेकी जरूरत ही क्या है?—इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—‘**मनः समाधाय**’ अर्थात् ‘यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है’ ऐसे मनको समाधान करके यज्ञ करना चाहिये।

‘**अफलाकाङ्‌क्षिभिः**’—मनुष्य फलकी इच्छा रखनेवाला न हो अर्थात् लोक-परलोकमें मेरेको इस यज्ञका अमुक फल मिले—ऐसा भाव रखनेवाला न हो।

‘**यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते**’—शास्त्रोंमें विधिके विषयमें जैसी आज्ञा दी गयी है, उसके अनुसार ही यज्ञ किया जाय। इस प्रकारसे जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक होता है—‘**स सात्त्विकः**।’

सात्त्विकताका तात्पर्य

सात्त्विकताका क्या तात्पर्य होता है? अब इसपर थोड़ा विचार करें। ‘**यष्टव्यम्**’*—‘यज्ञ करनामात्र कर्तव्य है’—ऐसा जब उद्देश्य रहता है, तब उस यज्ञके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जुड़ता। परन्तु जब कर्तामें ‘वर्तमानमें मान, आदर, सत्कार आदि मिलें, मरनेके बाद स्वर्गादि लोक मिलें तथा आगेके जन्ममें धनादि पदार्थ मिलें’—इस प्रकारकी इच्छाएँ होंगी, तब उसका उस यज्ञके साथ सम्बन्ध जुड़ जायगा। तात्पर्य है कि फलकी इच्छा रखनेसे ही यज्ञके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। केवल कर्तव्यमात्रका पालन करनेसे उससे सम्बन्ध नहीं जुड़ता, प्रत्युत उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और (स्वार्थ तथा अभिमान न रहनेसे) कर्ताकी अहंता शुद्ध हो जाती है।

इसमें एक बड़ी मार्मिक बात है कि कुछ भी कर्म करनेमें कर्ताका कर्मके साथ सम्बन्ध रहता है। कर्म कर्तासे अलग नहीं होता। कर्म कर्ताका ही चित्र होता है अर्थात् जैसा कर्ता होगा, वैसे ही कर्म होंगे। इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—‘**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**’ अर्थात् जो जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है और वैसा ही (श्रद्धाके अनुसार) उससे कर्म होता है। तात्पर्य यह है कि कर्ताका कर्मके साथ सम्बन्ध होता है और कर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे ही कर्ताका बन्धन होता है। केवल कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे कर्ताका कर्मके साथ सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् कर्ता मुक्त हो जाता है।

केवल कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करना क्या है? अपने लिये कुछ नहीं करना है, सामग्रीके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; मेरा देश, काल आदिसे भी कोई सम्बन्ध नहीं है; केवल मनुष्य होनेके नाते जो कर्तव्य प्राप्त हुआ है, उसको कर देना है—ऐसा भाव होनेसे कर्ता फलाकांक्षी नहीं होगा और कर्मोंका फल कर्ताको बाँधेगा नहीं अर्थात् यज्ञकी क्रिया

*** जो करनेयोग्य है, जो अपनी सामर्थ्यके अनुरूप है, जिसे अवश्य करना चाहिये और जिसको करनेसे उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होती है, वह ‘कर्तव्य’ होता है। वही कर्तव्य यज्ञमें ‘यष्टव्य’ और दानमें ‘दातव्य’ है।**

और यज्ञके फलके साथ कर्ताका सम्बन्ध नहीं होगा। गीता कहती है—**'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।'** (५। ११) अर्थात् करण (शरीर, इन्द्रियाँ आदि) उपकरण (यज्ञ करनेमें उपयोगी सामग्री) और अधिकरण (स्थान) आदि किसीके भी साथ हमारा सम्बन्ध न हो।

यज्ञकी क्रियाका आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। ऐसे ही उसके फलका भी आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। क्रिया और फल दोनों उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले हैं और स्वयं (आत्मा) नित्य-निरन्तर रहनेवाला है; परन्तु यह (स्वयं) क्रिया और फलके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है। इस माने हुए सम्बन्धको यह जबतक नहीं छोड़ता, तबतक यह जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा रहता है—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)।

एक विलक्षण बात है कि गीतामें जो सत्त्वगुण कहा है, वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्माकी तरफ ले जानेवाला होनेसे 'सत्' अर्थात् निर्गुण हो जाता है*। दैवी-सम्पत्तिमें भी जितने गुण हैं, वे सब सात्त्विक ही हैं। परन्तु दैवी-सम्पत्तिवाला तभी परमात्माको प्राप्त होगा, जब वह सत्त्वगुणसे ऊँचा उठ जायगा अर्थात् जब गुणोंके संगसे सर्वथा रहित हो जायगा।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

तु	= परन्तु	**एव**	= ही	**अपि**	= भी (किया जाता है),
भरतश्रेष्ठ	= हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन!	**इज्यते**	= किया जाता है	**तम्**	= उस
यत्	= जो	**च**	= अथवा	**यज्ञम्**	= यज्ञको (तुम)
फलम्	= फलकी	**दम्भार्थम्**	= दम्भ (दिखावटीपन)-के लिये	**राजसम्**	= राजस
अभिसन्धाय	= इच्छाको लेकर			**विद्धि**	= समझो।

व्याख्या—**'अभिसन्धाय तु फलम्'**—फल अर्थात् इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिकी कामना रखकर जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस हो जाता है।

'इस लोकमें हमें धन-वैभव मिले; स्त्री-पुत्र, परिवार अच्छा मिले; नौकर-चाकर, गाय-भैंस आदि भी हमारे अनुकूल मिलें; हमारा शरीर नीरोग रहे; हमारा आदर-सत्कार, मान-बड़ाई, प्रसिद्धि हो जाय तथा मरनेके बाद भी हमें स्वर्गादि लोकोंके दिव्य भोग मिलें' आदि इष्टकी प्राप्तिकी कामनाएँ हैं।

---

* श्रीमद्भागवतमें एकादश स्कन्धके पचीसवें अध्यायमें जहाँ तामस, राजस और सात्त्विक—इन तीन गुणोंका वर्णन हुआ है, वहाँ उनके साथ एक 'निर्गुण' और कहा है। परन्तु गीतामें तीन ही गुण कहे गये हैं। जब दोनोंके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, तो फिर ऐसा भेद क्यों?

गीताका जो सात्त्विक भाव है, उसमें भगवान्ने 'यष्टव्यम्' (१७। ११), 'दातव्यम्' (१७। २०), 'कार्यमित्येव' (१८। ९) आदि पद कहे हैं। इन्हें कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस कर्ताका 'यज्ञ करनामात्र, दान देनामात्र और कर्तव्य करनामात्र' उद्देश्य रहता है, उसका कर्म और कर्मफलके साथ प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् सात्त्विक यज्ञ, दान आदि भी 'निर्गुण' हो जाते हैं।

सत्रहवें अध्यायके अन्तमें परमात्माके तीन नामों 'ॐ, तत्, सत्' के वर्णनमें 'सत्' शब्दकी व्याख्या करते हुए भगवान्ने बताया कि उस परमात्माके निमित्त जितने कर्म किये जाते हैं, वे सभी 'सत्' (निर्गुण) हो जाते हैं—'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते' (१७। २७)। तात्पर्य यह है कि कर्मयोगीका कर्म और कर्मफलके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे और भक्तियोगीके कर्मोंका भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़नेसे उनके सभी कर्म 'निर्गुण' हो जाते हैं। इस प्रकार दोनों ही बातें एकहीमें आ जानेसे गीतामें निर्गुणका अलग वर्णन नहीं आया है।

गीतामें जहाँ सत्त्वगुणको अनामय बताया है, वहाँ सत्त्वगुणसे बन्धन होनेकी बात भी कही है (१४। ६) और कहा है कि सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं (१४। १८)। इसका तात्पर्य यह है कि बन्धन सत्त्वगुणसे नहीं होता, प्रत्युत उसका संग करनेसे ही बन्धन होता है—'सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥' (१४। ६) और 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥' (१३। २१)। ऐसे ही सत्त्वगुणमें अपनी स्थिति मानना 'सत्त्वस्थाः' (१४। १८) भी बन्धनकारक है।

'हमारे वैरी नष्ट हो जायँ; संसारमें हमारा अपमान, बेइज्जती, तिरस्कार आदि कभी न हो; हमारे प्रतिकूल परिस्थिति कभी आये ही नहीं' आदि अनिष्टकी निवृत्तिकी कामनाएँ हैं।

'दम्भार्थमपि चैव यत्'—लोग हमें भीतरसे सद्‌गुणी, सदाचारी, संयमी, तपस्वी, दानी, धर्मात्मा, याज्ञिक आदि समझें, जिससे संसारमें हमारी प्रसिद्धि हो जाय—ऐसे दिखावटीपनेको लेकर जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस कहलाता है। इस प्रकारके दिखावटी यज्ञ करनेवालोंमें **'यक्ष्ये दास्यामि'** (१६। १५) और **'यजन्ते नामयज्ञैस्ते'** (१६। १७) आदि सभी बातें विशेषतासे आ जाती हैं।

'इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्'—इस प्रकार फलकी कामना और दम्भ-(दिखावटीपन-) को लेकर जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस हो जाता है।

जो यज्ञ कामनापूर्तिके लिये किया जाता है, उसमें शास्त्रविधिकी मुख्यता रहती है। कारण कि यज्ञकी विधि और क्रियामें यदि किसी प्रकारकी कमी रहेगी, तो उससे प्राप्त होनेवाले फलमें भी कमी आ जायगी। इसी प्रकार यदि यज्ञकी विधि और क्रियामें विपरीत बात आ जायगी, तो उसका फल भी विपरीत हो जायगा अर्थात् वह यज्ञ सिद्धि न देकर उलटे यज्ञकर्ताके लिये घातक हो जायगा।

परन्तु जो यज्ञ केवल दिखावटीपनके लिये किया जाता है, उसमें शास्त्रविधिकी परवाह नहीं होती।

यहाँ **'विद्धि'** क्रिया देनेका तात्पर्य है कि हे अर्जुन! सांसारिक राग (कामना) ही जन्म-मरणका कारण है। अतः इस विषयमें तेरेको विशेष सावधान रहना है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें आये **'यत्'** पदसे यह भाव निकलता है कि फलेच्छा और दम्भके लिये जो भी यज्ञ, दान, तप आदि कर्म किये जायँ, वे सब राजस समझने चाहिये।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

विधिहीनम् = शास्त्रविधिसे हीन, **असृष्टान्नम्** = अन्न-दानसे रहित, **मन्त्रहीनम्** = बिना मन्त्रोंके, **अदक्षिणम्** = बिना दक्षिणाके (और) **श्रद्धाविरहितम्** = बिना श्रद्धाके किये जानेवाले **यज्ञम्** = यज्ञको **तामसम्** = तामस **परिचक्षते** = कहते हैं।

व्याख्या—**'विधिहीनम्'**—अलग-अलग यज्ञोंकी अलग-अलग विधियाँ होती हैं और उसके अनुसार यज्ञकुण्ड, स्रुवा आदि पात्र, बैठनेकी दिशा, आसन आदिका विचार होता है। अलग-अलग देवताओंकी अलग-अलग सामग्री होती है; जैसे—देवीके यज्ञमें लाल वस्त्र और लाल सामग्री होती है। परन्तु तामस यज्ञमें इन विधियोंका पालन नहीं होता, प्रत्युत उपेक्षापूर्वक विधिका त्याग होता है।

'असृष्टान्नम्'—तामस मनुष्य जो द्रव्ययज्ञ करते हैं, उसमें ब्राह्मणादिको अन्न-दान नहीं किया जाता। तामस मनुष्योंका यह भाव रहता है कि मुफ्तमें रोटी मिलनेसे वे आलसी हो जायँगे, काम-धंधा नहीं करेंगे।

'मन्त्रहीनम्'—वेदोंमें और वेदानुकूल शास्त्रोंमें कहे हुए मन्त्रोंसे ही द्रव्ययज्ञ किया जाता है। परन्तु तामस यज्ञमें वैदिक तथा शास्त्रीय मन्त्रोंसे यज्ञ नहीं किया जाता। कारण कि तामस पुरुषोंका यह भाव रहता है कि आहुति देनेमात्रसे यज्ञ हो जाता है, सुगन्ध हो जाती है, गंदे परमाणु नष्ट हो जाते हैं, फिर मन्त्रोंकी क्या जरूरत है? आदि।

'अदक्षिणम्'—तामस यज्ञमें दान नहीं किया जाता। कारण कि तामस पुरुषोंका यह भाव रहता है कि हमने यज्ञमें आहुति दे दी और ब्राह्मणोंको अच्छी तरहसे भोजन करा दिया, अब उनको दक्षिणा देनेकी क्या जरूरत रही? यदि हम उनको दक्षिणा देंगे तो वे आलसी-प्रमादी हो जायँगे, पुरुषार्थहीन हो जायँगे, जिससे दुनियामें बेकारी फैलेगी; दूसरी बात, जिन ब्राह्मणोंको दक्षिणा मिलती है, वे कुछ कमाते ही नहीं, इसलिये वे पृथ्वीपर भाररूप रहते हैं, इत्यादि। वे तामस मनुष्य यह नहीं सोचते कि ब्राह्मणादिको अन्नदान, दक्षिणा आदि न देनेसे वे तो प्रमादी बनें, चाहे न बनें; पर शास्त्रविधिका, अपने कर्तव्य-कर्मका त्याग करनेसे हम तो प्रमादी बन ही गये!

'**श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते**'—अग्निमें आहुति देनेके विषयमें तामस मनुष्योंका यह भाव रहता है कि अन्न, घी, जौ, चावल, नारियल, छुहारा आदि तो मनुष्यके निर्वाहके कामकी चीजें हैं। ऐसी चीजोंको अग्निमें फूँक देना कितनी मूर्खता है!* अपनी प्रसिद्धि, मान-बड़ाईके लिये वे यज्ञ करते भी हैं तो बिना शास्त्रविधिके, बिना अन्नदानके, बिना मन्त्रोंके और बिना दक्षिणाके करते हैं। उनकी शास्त्रोंपर, शास्त्रोक्त मन्त्रोंपर और उनमें बतायी हुई विधियोंपर तथा शास्त्रोक्त विधिपूर्वक की गयी यज्ञकी क्रियापर और उसके पारलौकिक फलपर भी श्रद्धा-विश्वास नहीं होते। कारण कि उनमें मूढ़ता होती है। उनमें अपनी तो अक्ल होती नहीं और दूसरा कोई समझा दे तो उसे मानते नहीं।

इस तामस यज्ञमें '**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः**' (गीता १६। २३) और '**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्**' (गीता १७। २८)—ये दोनों भाव होते हैं। अतः वे इहलोक और परलोकका जो फल चाहते हैं, वह उनको नहीं मिलता—'**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्**', '**न च तत्प्रेत्य नो इह।**' तात्पर्य है कि उनको उपेक्षापूर्वक किये गये शुभ-कर्मोंका इच्छित फल तो नहीं मिलेगा, पर अशुभ-कर्मोंका फल (अधोगति) तो मिलेगा ही—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (१४। १८)। कारण कि अशुभ फलमें अश्रद्धा ही हेतु है और वे अश्रद्धापूर्वक ही शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं; अतः इसका दण्ड तो उनको मिलेगा ही।

इन यज्ञोंमें कर्ता, ज्ञान, क्रिया, धृति, बुद्धि, संग, शास्त्र, खान-पान आदि यदि सात्त्विक होंगे, तो वह यज्ञ सात्त्विक हो जायगा; यदि राजस होंगे, तो वह यज्ञ राजस हो जायगा; और यदि तामस होंगे, तो वह यज्ञ तामस हो जायगा।

सम्बन्ध—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञका वर्णन करके अब आगेके तीन श्लोकोंमें क्रमशः शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका वर्णन करते हैं (जिसका सात्त्विक, राजस और तामस-भेद आगे करेंगे)।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्	= देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषका यथायोग्य पूजन करना,
शौचम्	= शुद्धि रखना,
आर्जवम्	= सरलता,
ब्रह्मचर्यम्	= ब्रह्मचर्यका पालन करना
च	= और
अहिंसा	= हिंसा न करना—(यह)
शारीरम्	= शरीर-सम्बन्धी
तपः	= तप
उच्यते	= कहा जाता है।

व्याख्या—'**देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्**'—यहाँ 'देव' शब्द मुख्यरूपसे विष्णु, शंकर, गणेश, शक्ति और सूर्य—इन पाँच ईश्वरकोटिके देवताओंके लिये आया है। इन पाँचोंमें जो अपना इष्ट है, जिसपर अधिक श्रद्धा है, उसका

* जब खेतमें हल चलानेवाला अनाजके बढ़िया-बढ़िया बीजोंको मिट्टीमें मिला देता है, तो खेती होनेपर उन बीजोंसे कई गुणा अधिक अनाज पैदा हो जाता है; फिर शास्त्रीय मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक वस्तुओंका हवन करना क्या निरर्थक जायगा? मिट्टीमें मिलाया हुआ बीज तो आधिभौतिक है; क्योंकि पृथ्वी जड है, पर शास्त्रविधिसहित अग्निमें दी गयी आहुति आधिदैविक है; क्योंकि देवता चेतन हैं। अतः उन देवताओंके लिये दी गयी आहुति वर्षाके रूपमें बहुत बड़ा काम करती है। मनुजीने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनुस्मृति ३। ७६)

अर्थात् अग्निमें डाली हुई आहुति आदित्यकी किरणोंको पुष्ट करती है और उन पुष्ट हुई किरणोंसे वर्षा होती है (इस बातको भौतिक वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं)।

मात्र जीव अन्नसे पैदा होते हैं और अन्न जलसे पैदा होता है—'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।' (गीता ३। १४)। अतः सृष्टिमें जल ही प्रधान है। जल बरसनेमें 'यज्ञ' ही खास हेतु है—'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' (३। १४)।

निष्कामभावसे पूजन करना चाहिये।*

बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस शास्त्रोक्त देवता भी 'देव' शब्दके अन्तर्गत आते हैं। यज्ञ, तीर्थ, व्रत आदिमें, दीपमालिका आदि विशेष पर्वोंमें और जातकर्म, चूड़ाकर्म, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारोंके समय जिन देवताओंके पूजनका शास्त्रोंमें विधान आता है, उन सब देवताओंको भी 'देव' शब्दके अन्तर्गत मानना चाहिये। इन देवताओंका यथावसर पूजन करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है। अत: हमें तो केवल शास्त्रमर्यादाको सुरक्षित रखनेके लिये अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे इनका पूजन करना है—ऐसे भावसे इन देवताओंका भी यथावसर पूजन करना चाहिये। तात्पर्य है कि शास्त्रोंने जिन-जिन तिथि, वार, नक्षत्र, आदिके दिन जिन-जिन देवताओंका पूजन करनेका विधान बताया है, उन-उन तिथि आदिके दिन उन-उन देवताओंका पूजन करना चाहिये।

'**द्विज**' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंका वाचक है; परन्तु यहाँ पूजनका विषय होनेसे इसे केवल ब्राह्मणका ही वाचक समझना चाहिये, क्षत्रिय और वैश्यका नहीं।

जिनसे हमें शिक्षा प्राप्त होती है, ऐसे हमारे माता-पिता बड़े-बूढ़े, कुलके आचार्य, पढ़ानेवाले अध्यापक और आश्रम, अवस्था, विद्या आदिमें जो हमारेसे बड़े हैं, उन सभीको 'गुरु' शब्दके अन्तर्गत समझना चाहिये।

द्विज (ब्राह्मण) एवं अपने माता-पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना और उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना तथा पत्र-पुष्प, आरती आदिसे उनकी पूजा करना—यह सब उनका पूजन है।

यहाँ '**प्राज्ञ**' शब्द जीवन्मुक्त महापुरुषके लिये आया है। यदि वह वर्ण और आश्रममें ऊँचा होता, तो 'द्विज' पदमें आ जाता और यदि शरीरके सम्बन्धमें (जन्म और विद्यासे) बड़ा होता, तो 'गुरु' पदमें आ जाता। इसलिये जो वर्ण और आश्रममें ऊँचा नहीं है एवं जिसके साथ गुरुका सम्बन्ध भी नहीं है—ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषको यहाँ 'प्राज्ञ' कहा गया है। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषके वचनोंका, सिद्धान्तोंका आदर करते हुए उनके अनुसार अपना जीवन बनाना ही वास्तवमें उसका पूजन है। वास्तवमें देखा जाय तो द्विज और गुरु तो सांसारिक दृष्टिसे आदरणीय हैं, पूजनीय हैं; परन्तु प्राज्ञ (जीवन्मुक्त) तो आध्यात्मिक दृष्टिसे आदरणीय—पूजनीय है। अत: जीवन्मुक्तका हृदयसे आदर करना चाहिये; क्योंकि केवल बाहरी (बाह्य दृष्टिसे) आदर ही आदर नहीं है, प्रत्युत हृदयका आदर ही वास्तविक आदर है, पूजन है।

'**शौचम्**'—जल, मृत्तिका आदिसे शरीरको पवित्र बनानेका नाम 'शौच' है। शारीरिक शुद्धिसे अन्त:करणकी शुद्धि होती है।

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(योगदर्शन २। ४०)

शौचसे अपने शरीरमें घृणा होगी कि हम इस शरीरको रात-दिन इतना साफ करते हैं, फिर भी इससे मल, मूत्र, पसीना, नाकका कफ, आँख और कानकी मैल, लार, थूक आदि निकलते ही रहते हैं। यह शरीर हड्डी, मांस, मज्जा आदि घृणित (अपवित्र) चीजोंका बना हुआ है। इस हड्डी-मांसके थैलेमें तोलाभर भी कोई शुद्ध, पवित्र, निर्मल और सुगन्धयुक्त वस्तु नहीं है। यह केवल गंदगीका पात्र है। इसमें कोरी मलिनता-ही-मलिनता भरी पड़ी है। यह केवल मल-मूत्र पैदा करनेकी एक फैक्टरी है, मशीन है। इस प्रकार शरीरकी अशुद्धि, मलिनताका ज्ञान होनेसे मनुष्य शरीरसे ऊँचा उठ जाता है। शरीरसे ऊँचा उठनेपर उसको वर्ण, आश्रम, अवस्था आदिको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अभिमान नहीं होता। इन्हीं बातोंके लिये शौच रखा जाता है।

आजकल प्राय: लोग कहते हैं कि जो शौचाचार रखते हैं, वे तो दूसरोंका अपमान करते हैं, दूसरोंसे घृणा करते हैं। उनका ऐसा कहना बिलकुल गलत है; क्योंकि शौचका फल यह नहीं बताया गया कि तुम दूसरोंका तिरस्कार करो, प्रत्युत यह बताया गया कि इससे दूसरोंके साथ संसर्ग नहीं होगा—'**परैरसंसर्गः।**' तात्पर्य है कि शरीरमात्रसे ग्लानि हो जायगी कि ये सब पुतले ऐसे ही अशुद्ध हैं। जैसे, मिट्टीके ढेलेको जलसे धोते चले जायँ, तो अन्तमें वह सब (गलकर) समाप्त हो जायगा, पर उसमें मिट्टीके सिवाय कोई बढ़िया चीज नहीं मिलेगी; ऐसे ही शरीरको कितना ही शुद्ध करते रहें, पर वह कभी शुद्ध होगा नहीं; क्योंकि इसके मूलमें ही अशुद्धि है—

* **इनमें भी वैष्णव भगवान् विष्णुको, शैव भगवान् शिवको, गाणपत भगवान् गणेशको, शाक्त भगवती शक्तिको और सौर भगवान् सूर्यको सर्वोपरि ईश्वर मानते हैं। अत: इन पाँचोंमें भी अपनी श्रद्धा-भक्तिके अनुसार अपना इष्ट तो सर्वोपरि ईश्वर होगा और अन्य सभी देवता होंगे।**

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

(योगदर्शन २।५ का व्यास-भाष्य)

'विद्वान् लोग शरीरको स्थान (माताके उदरमें स्थित), बीज (माता-पिताके रजोवीर्यसे उद्भूत), उपष्टम्भ (खाये-पीये हुए आहारके रससे परिपुष्ट), निःस्यन्द (मल, मूत्र, थूक, लार, स्वेद आदि स्रावसे युक्त), निधन (मरणधर्मा) और आधेय शौच (जल-मृत्तिका आदिसे प्रक्षालित करनेयोग्य) होनेके कारण अपवित्र मानते हैं।'

'**आर्जवम्**'—शरीरकी ऐंठ-अकड़का त्याग करके उठने, बैठने आदि शारीरिक क्रियाओंको सीधी-सरलतासे करनेका नाम 'आर्जव' है। अभिमान अधिक होनेसे ही शरीरमें टेढ़ापन आता है। अतः जो अपना कल्याण चाहता है, ऐसे साधकको अपनेमें अभिमान नहीं रखना चाहिये। निरभिमानता होनेसे शरीरमें और शरीरकी चलने, उठने, बैठने, बोलने, देखने आदि सभी क्रियाओंमें स्वाभाविक ही सरलता आ जाती है, जो 'आर्जव' है।

'**ब्रह्मचर्यम्**'—ये आठ क्रियाएँ ब्रह्मचर्यको भंग करनेवाली हैं—(१) पहले कभी स्त्रीसंग किया है, उसको याद करना, (२) स्त्रियोंसे रागपूर्वक बातें करना, (३) स्त्रियोंके साथ हँसी-दिल्लगी करना, (४) स्त्रियोंकी तरफ रागपूर्वक देखना, (५) स्त्रियोंके साथ एकान्तमें बातें करना, (६) मनमें स्त्रीसंगका संकल्प करना, (७) स्त्रीसंगका पक्का विचार करना और (८) साक्षात् स्त्रीसंग करना। ये आठ प्रकारके मैथुन विद्वानोंने बताये हैं[1]। इनमेंसे कोई भी क्रिया कभी न हो, उसका नाम 'ब्रह्मचर्य' है।

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन तीनोंका तो बिलकुल ही वीर्यपात नहीं होना चाहिये और न ऐसा संकल्प ही होना चाहिये। गृहस्थ केवल सन्तानार्थ शास्त्रविधिके अनुसार ऋतुकालमें स्त्रीसंग करता है, तो वह गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी ब्रह्मचारी माना जाता है। विधवाओंके विषयमें भी ऐसी ही बात आती है कि जो स्त्री अपने पतिके रहते पातिव्रत-धर्मका पालन करती रही है और पतिकी मृत्युके बाद ब्रह्मचर्य धर्मका पालन करती है, उस विधवाकी वही गति होती है, जो आबाल ब्रह्मचारीकी होती है।

वास्तवमें तो '**ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**' (गीता ६।१४)—ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित रहना ही ब्रह्मचर्य है। परन्तु इसमें भी यदि स्वप्नदोष हो जाय अथवा प्रमेह आदि शरीरकी खराबीसे वीर्यपात हो जाय, तो उसे ब्रह्मचर्यभंग नहीं माना गया है। भीतरके भावोंमें गड़बड़ी आनेसे जो वीर्यपात आदि होते हैं, वही ब्रह्मचर्यभंग माना गया है। कारण कि ब्रह्मचर्यका भावोंके साथ सम्बन्ध है। इसलिये ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालेको चाहिये कि अपने भाव शुद्ध रखनेके लिये वह अपने मनको परस्त्रीकी तरफ कभी जाने ही न दे। सावधानी रखनेपर कभी मन चला भी जाय, तो भीतरमें यह दृढ़ विचार रखे कि यह मेरा काम नहीं है, मैं ऐसा काम करूँगा ही नहीं; क्योंकि मेरा ब्रह्मचर्य-पालन करनेका पक्का विचार है; मैं ऐसा काम कैसे कर सकता हूँ?

'**अहिंसा**'—सभी प्रकारकी हिंसाका अभाव अहिंसा है। हिंसा स्वार्थ, क्रोध, लोभ और मोह-(मूढ़ता-) को लेकर होती है। जैसे, अपने स्वार्थमें आकर किसीका धन दबा लिया, दूसरोंका नुकसान करा दिया—यह 'स्वार्थ' को लेकर हिंसा है। क्रोधमें आकर किसीको थोड़ी चोट पहुँचायी, ज्यादा चोट पहुँचायी अथवा खत्म ही कर दिया—यह 'क्रोध' को लेकर हिंसा है। चमड़ा मिलेगा, मांस मिलेगा, इसके लिये किसी पशुको मार दिया अथवा धनके कारण किसीको मार दिया—यह 'लोभ' को लेकर हिंसा है। रास्तेपर चलते-चलते किसी कुत्तेको लाठी मार दी, वृक्षकी डाली तोड़ दी, किसी घासको ही तोड़ दिया, किसीको ठोकर मार दी, तो इसमें न क्रोध है, न लोभ है और न कुछ मिलनेकी सम्भावना ही है—यह 'मोह' (मूढ़ता)-को लेकर हिंसा है। अहिंसामें इन सभी हिंसाओंका अभाव है[2]।

'**शारीरं तप उच्यते**'— देव आदिका पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह पाँच प्रकारका 'शारीरिक तप' कहा गया है। इस शारीरिक तपमें तीर्थ, व्रत, संयम आदि भी ले लेने चाहिये।

जब कष्ट उठाना पड़ता है, तपन होती है, तब वह तप होता है; परन्तु उपर्युक्त शारीरिक तपमें तो ऐसी कोई बात नहीं है, फिर यह तप किस प्रकार हुआ? कष्ट उठाकर जो तप किया जाता है, वह वास्तवमें श्रेष्ठ कोटिका तप नहीं है।

१-स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

२-यहाँ 'अहिंसा' शारीरिक तपके अन्तर्गत आयी है, इसलिये यहाँ शरीर-सम्बन्धी अहिंसा ही ली जायगी, मन-वाणीकी अहिंसा नहीं ली जायगी।

तपमें कष्टकी मुख्यता रखनेवालोंको भगवान्‌ने '**आसुरनिश्चयान्**' (१७। ६)—आसुर निश्चयवाले बताया है। तप तो वही श्रेष्ठ है, जिसमें उच्छृंखल वृत्तियोंको रोककर शास्त्र, कुल-परम्परा और लोक-परम्पराकी मर्यादाके अनुसार संयमपूर्वक चलना होता है। ऐसे ही साधन करते हुए स्वाभाविक ही देश, काल, परिस्थिति, घटना आदि अपने विपरीत आ जायँ, तो उनको साधन-सिद्धिके लिये प्रसन्नतापूर्वक सहना भी तप है। इस तपमें शरीर, इन्द्रिय, मन आदिका संयम होता है।

अष्टांगयोगमें जहाँ यम-नियमादि आठ अंगोंका वर्णन किया गया है[1], वहाँ 'यम' को सबसे पहले बताया है। यद्यपि पाँच ही 'यम' हैं—'**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः**' (योगदर्शन २। ३०) और पाँच ही 'नियम' हैं—'**शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः**' (योगदर्शन २। ३२), तथापि इन दोनोंमेंसे नियमकी अपेक्षा यमकी ज्यादा महिमा है। कारण कि 'नियम' में व्रतोंका पालन करना पड़ता है और 'यम' में इन्द्रियों, मन आदिका संयम करना पड़ता है।[2]

लोगोंकी दृष्टिमें यह बात हो सकती है कि शरीरको कष्ट देना तप है और आरामसे रहकर संयम करना, त्याग करना तप नहीं है; परंतु वास्तवमें देखा जाय तो समस्त सांसारिक विषयोंमें अनासक्त होकर जो संयम, त्याग किया जाता है, वह तपसे कम नहीं है, प्रत्युत पारमार्थिक मार्गमें उसीका ऊँचा दर्जा है। कारण कि त्यागसे परमात्माकी प्राप्ति होती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। केवल बाहरी तपसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं बतायी गयी है; किंतु अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण होनेसे वह तप परमात्मप्राप्तिमें सहायक हो सकता है। इसलिये साधकको मुख्यरूपसे यमोंका सेवन करते हुए समय-समयपर नियमोंका भी पालन करते रहना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—शारीरिक तपमें त्याग मुख्य है; जैसे—पूजन करनेमें अपनेमें बड़प्पनके भावका त्याग है; शुद्धि रखनेमें आलस्य-प्रमादका त्याग है; सरलता रखनेमें अभिमानका त्याग है; ब्रह्मचर्यमें विषयसुखका त्याग है; अहिंसामें अपने सुखके भावका त्याग है। इस प्रकार त्याग करनेसे शारीरिक तप होता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

यत्	= जो	**प्रियहितम्**	= प्रिय तथा हितकारक		अभ्यास (नामजप आदि)
अनुद्वेग-करम्	= किसीको भी उद्विग्न न करनेवाला,	**वाक्यम्**	= भाषण है, (वह)	**एव**	= भी
सत्यम्	= सत्य	**च**	= तथा	**वाङ्मयम्**	= वाणी-सम्बन्धी
च	= और	**स्वाध्या-याभ्यसनम्**	= स्वाध्याय और	**तपः**	= तप
				उच्यते	= कहा जाता है।

व्याख्या—'**अनुद्वेगकरं वाक्यम्**'—जो वाक्य वर्तमानमें और भविष्यमें कभी किसीमें भी उद्वेग, विक्षेप और हलचल पैदा करनेवाला न हो, वह वाक्य 'अनुद्वेगकर' कहा जाता है।

'**सत्यं प्रियहितं च यत्**'—जैसा पढ़ा, सुना, देखा और निश्चय किया गया हो, उसको वैसा-का-वैसा ही अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंको समझानेके लिये कह देना 'सत्य' है[3]।

१-यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि। (पातंजलयोगदर्शन २। २९)

२-हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण आदि राक्षसोंमें भी 'नियम' तो मिलते हैं, पर उनमें 'यम' नहीं मिलते।

३-सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ (मनुस्मृति ४। १३८)

'मनुष्यको सत्य बोलना चाहिये और प्रिय बोलना चाहिये। उसमें भी सत्य हो, पर अप्रिय न हो और प्रिय हो, पर असत्य न हो—यही सनातन धर्म है।'

जो क्रूरता, रूखेपन, तीखेपन, ताने, निन्दा-चुगली और अपमानकारक शब्दोंसे रहित हो और जो प्रेमयुक्त, मीठे, सरल और शान्त वचनोंसे कहा जाय, वह वाक्य 'प्रिय' कहलाता है।*

जो हिंसा, डाह, द्वेष, वैर आदिसे सर्वथा रहित हो और प्रेम, दया, क्षमा, उदारता, मंगल आदिसे भरा हो तथा जो वर्तमानमें और भविष्यमें भी अपना और दूसरे किसीका अनिष्ट करनेवाला न हो, वह वाक्य 'हित' (हितकर) कहलाता है।

'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव'—पारमार्थिक उन्नतिमें सहायक गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंको स्वयं पढ़ना और दूसरोंको पढ़ाना, भगवान् तथा भक्तोंके चरित्रोंको पढ़ना आदि **'स्वाध्याय'** है।

गीता आदि पारमार्थिक ग्रन्थोंकी बार-बार आवृत्ति करना, उन्हें कण्ठस्थ करना, भगवन्नामका जप करना, भगवान्‌की बार-बार स्तुति-प्रार्थना करना आदि **'अभ्यसन'** है।

'च एव'—इन दो अव्यय पदोंसे वाणीसम्बन्धी तपकी अन्य बातोंको भी ले लेना चाहिये; जैसे—दूसरोंकी निन्दा न करना, दूसरोंके दोषोंको न कहना, वृथा बकवाद न करना अर्थात् जिससे अपना तथा दूसरोंका कोई लौकिक या पारमार्थिक हित सिद्ध न हो—ऐसे वचन न बोलना, पारमार्थिक साधनमें बाधा डालनेवाले तथा शृंगार-रसके काव्य, नाटक, उपन्यास आदि न पढ़ना अर्थात् जिनसे काम, क्रोध, लोभ आदिको सहायता मिले—ऐसी पुस्तकोंको न पढ़ना आदि-आदि।

'वाङ्मयं तप उच्यते'—उपर्युक्त सभी लक्षण जिसमें होते हैं, वह वाणीसे होनेवाला तप कहलाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

मनःप्रसादः	= मनकी प्रसन्नता,	**ग्रहः**	= मनका निग्रह (और)	**इति**	= —इस तरह
सौम्यत्वम्	= सौम्य भाव,	**भावसंशुद्धिः**	= भावोंकी भलीभाँति शुद्धि	**एतत्**	= यह
मौनम्	= मननशीलता,			**मानसम्**	= मन-सम्बन्धी
आत्मविनि-				**तपः**	= तप
				उच्यते	= कहा जाता है।

व्याख्या—**'मनःप्रसादः'**—मनकी प्रसन्नताको 'मनःप्रसाद' कहते हैं। वस्तु, व्यक्ति, देश, काल, परिस्थिति, घटना आदिके संयोगसे पैदा होनेवाली प्रसन्नता स्थायीरूपसे हरदम नहीं रह सकती; क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, वह वस्तु स्थायी रहनेवाली नहीं होती। परन्तु दुर्गुण-दुराचारोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर जो स्थायी तथा स्वाभाविक प्रसन्नता प्रकट होती है, वह हरदम रहती है और वही प्रसन्नता मन, बुद्धि आदिमें आती है, जिससे मनमें कभी अशान्ति होती ही नहीं अर्थात् मन हरदम प्रसन्न रहता है।

मनमें अशान्ति, हलचल आदि कब होते हैं? जब मनुष्य धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र आदि नाशवान् चीजोंका सहारा ले लेता है। जिसका सहारा उसने ले रखा है, वे सब चीजें आने-जानेवाली हैं, स्थायी रहनेवाली नहीं हैं। अतः उनके संयोग-वियोगसे उसके मनमें हलचल आदि होती है। यदि साधक न रहनेवाली चीजोंका सहारा छोड़कर नित्य-निरन्तर रहनेवाले प्रभुका सहारा ले ले, तो फिर पदार्थ, व्यक्ति आदिके संयोग-वियोगको लेकर उसके मनमें कभी अशान्ति, हलचल नहीं होगी।

मनकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके उपाय

(१) सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, देश, काल, घटना आदिको लेकर मनमें राग और द्वेष पैदा न होने दे।

(२) अपने स्वार्थ और अभिमानको लेकर किसीसे पक्षपात न करे।

(३) मनको सदा दया, क्षमा, उदारता आदि भावोंसे परिपूर्ण रखे।

(४) मनमें प्राणिमात्रके हितका भाव हो।

*** प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः। तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥**

'प्रिय वाक्य बोलनेसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सम्पूर्ण प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं, इसलिये मनुष्यको प्रिय वाक्य ही बोलना चाहिये। बोलनेमें दरिद्रता—कंजूसी किस बातकी?'

(५) **हितपरिमितभोजी नित्यमेकान्तसेवी**
सकृदुचितहितोक्तिः स्वल्पनिद्राविहारः।
अनुनियमनशीलो यो भजत्युक्तकाले
स लभत इव शीघ्रं साधुचित्तप्रसादम्॥

(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ३७२)

जो शरीरके लिये हितकारक एवं नियमित भोजन करनेवाला है, सदा एकान्तमें रहनेके स्वभाववाला है, किसीके पूछनेपर कभी कोई हितकी उचित बात कह देता है अर्थात् बहुत ही कम मात्रामें बोलता है, जो सोना और घूमना बहुत कम करनेवाला है। इस प्रकार जो शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार खान-पान-विहार आदिका सेवन करने-वाला है, वह साधक बहुत ही जल्दी चित्तकी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है।

—इन उपायोंसे मन सदा प्रसन्न रहता है।

'सौम्यत्वम्'—हृदयमें हिंसा, क्रूरता, कुटिलता, असहिष्णुता, द्वेष आदि भावोंके न रहनेसे एवं भगवान्‌के गुण, प्रभाव, दयालुता, सर्वव्यापकता आदिपर अटल विश्वास होनेसे साधकके मनमें स्वाभाविक ही 'सौम्यभाव' रहता है। फिर उसको कोई टेढ़ा वचन कह दे, उसका तिरस्कार कर दे, उसपर बिना कारण दोषारोपण करे, उसके साथ कोई वैर-द्वेष रखे अथवा उसके धन, मान, महिमा आदिकी हानि हो जाय, तो भी उसके सौम्यभावमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता।

'मौनम्'— अनुकूलता-प्रतिकूलता, संयोग-वियोग, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको लेकर मनमें हलचलका न होना ही वास्तवमें 'मौन' है।*

शास्त्रों, पुराणों और सन्त-महापुरुषोंकी वाणियोंका तथा उनके गहरे भावोंका मनन होता रहे; गीता, रामायण, भागवत आदि भगवत्सम्बन्धी ग्रन्थोंमें कहे हुए भगवान्‌के गुणोंका, चरित्रोंका सदा मनन होता रहे; संसारके प्राणी किस प्रकार सुखी हो सकते हैं? सबका कल्याण किन-किन उपायोंसे हो सकता है? किन-किन सरल युक्तियोंसे हो सकता है? उन-उन उपायोंका और युक्तियोंका मनमें हरदम मनन होता रहे—ये सभी 'मौन' शब्दसे कहे जा सकते हैं।

'आत्मविनिग्रहः'—मन बिलकुल एकाग्र हो जाय और तैलधारावत् एक ही चिन्तन करता रहे—इसको भी मनका निग्रह कहते हैं; परन्तु मनका सच्चा निग्रह यही है कि मन साधकके वशमें रहे अर्थात् मनको जहाँसे हटाना चाहें, वहाँसे हट जाय और जहाँ जितनी देर लगाना चाहें, वहाँ उतनी देर लगा रहे। तात्पर्य यह कि साधक मनके वशीभूत होकर काम नहीं करे, प्रत्युत मन ही उसके वशीभूत होकर काम करता रहे। इस प्रकार मनका वशीभूत होना ही वास्तवमें 'आत्मविनिग्रह' है।

'भावसंशुद्धिः'—जिस भावमें अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग हो और दूसरोंकी हितकारिता हो, उसे 'भावसंशुद्धि' अर्थात् भावकी महान् पवित्रता कहते हैं।

जिसके भीतर एक भगवान्‌का ही आसरा, भरोसा है, एक भगवान्‌का ही चिन्तन है और एक भगवान्‌की तरफ चलनेका ही निश्चय है, उसके भीतरके भाव बहुत जल्दी शुद्ध हो जाते हैं। फिर उसके भीतर उत्पत्ति-विनाशशील सांसारिक वस्तुओंका सहारा नहीं रहता; क्योंकि संसारका सहारा रखनेसे ही भाव अशुद्ध होते हैं।

'इत्येतत्तपो मानसमुच्यते'—इस प्रकार जिस तपमें मनकी मुख्यता होती है, वह मानस (मन-सम्बन्धी) तप कहलाता है।

परिशिष्ट भाव—प्रतिकूल परिस्थितिमें भी प्रसन्न रहे। अपने ऊपर परिस्थितिका असर न पड़े। दूसरेकी प्रतिकूल बात सुनकर भी सौम्य रहे। मनकी स्वतन्त्रताका त्याग करके मनन करे; क्योंकि मनको स्वतन्त्र छोड़नेसे सुखभोग होता है, मननशीलता नहीं आती। मनकी मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त वृत्तियोंका त्याग करे। अपने मनमें किसीके अहितका भाव न हो। यह सब मन-सम्बन्धी तप है।

*** यहाँ 'मौनम्' पद वाणीके मौन-(चुप रहने-) का वाचक नहीं है। यदि यह वाणीके मौनका वाचक होता, तो इसे वाणी-सम्बन्धी तपमें देते। परन्तु यहाँ 'मौन' शब्द मानसिक तपके अन्तर्गत आया है।**

गीतामें प्रायः यह देखा जाता है कि जहाँ अर्जुनका क्रियापरक प्रश्न है, वहाँ भगवान् भावपरक उत्तर देते हैं। जैसे दूसरे अध्यायके चौवनवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा कि 'स्थितधीः किं प्रभाषेत' 'स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है?' तो भगवान्‌ने उसका उत्तर दिया—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः''''''स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥' अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर जिसके मनमें हर्ष-शोक नहीं होते, वह स्थितप्रज्ञ मुनि (मौनी) है। तात्पर्य यह कि भगवान् क्रियाकी अपेक्षा भावको श्रेष्ठ मानते हैं। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ भी 'मौन'को मानसिक तपमें लिया है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके तीन श्लोकोंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस तपका वर्णन करते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

परया	= परम	**नरैः**	= मनुष्योंके द्वारा (जो)	**तपः**	= तप
श्रद्धया	= श्रद्धासे			**तप्तम्**	= किया जाता है,
युक्तैः	= युक्त	**त्रिविधम्**	= तीन प्रकार (शरीर, वाणी और मन)-का	**तत्**	= उसको
अफला-काङ्क्षिभिः	= फलेच्छारहित			**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
				परिचक्षते	= कहते हैं।

व्याख्या—'**श्रद्धया परया तप्तम्**'—शरीर, वाणी और मनके द्वारा जो तप किया जाता है, वह तप ही मनुष्योंका सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है और यही मानव-जीवनके उद्देश्यकी पूर्तिका अचूक उपाय है* तथा इसको सांगोपांग—अच्छी तरहसे करनेपर मनुष्यके लिये कुछ करना बाकी नहीं रहता अर्थात् जो वास्तविक तत्त्व है, उसमें स्वतः स्थिति हो जाती है—ऐसे अटल विश्वासपूर्वक श्रेष्ठ श्रद्धा करके बड़े-बड़े विघ्न और बाधाओंकी कुछ भी परवाह न करते हुए उत्साह एवं आदरपूर्वक तपका आचरण करना ही परम श्रद्धासे युक्त मनुष्योंद्वारा उस तपको करना है।

'**अफलाकाङ्क्षिभिः युक्तैः नरैः**'—यहाँ इन दो विशेषणोंसहित '**नरैः**' पद देनेका तात्पर्य यह है कि आंशिक सद्गुण-सदाचार तो प्राणिमात्रमें रहते ही हैं; परन्तु मनुष्यमें यह विशेषता है कि वह सद्गुण-सदाचारोंको सांगोपांग एवं विशेषतासे अपनेमें ला सकता है और दुर्गुण-दुराचार, कामना, मूढ़ता आदि दोषोंको सर्वथा मिटा सकता है। निष्कामभाव मनुष्योंमें ही हो सकता है।

सात्त्विक तपमें तो 'नर' शब्द दिया है; परन्तु राजस-तामस तपमें मनुष्यवाचक शब्द दिया ही नहीं। तात्पर्य यह है कि अपना कल्याण करनेके उद्देश्यसे मिले हुए अमूल्य शरीरको पाकर भी जो कामना, दम्भ, मूढ़ता आदि दोषोंको पकड़े हुए हैं, वे मनुष्य कहलानेके लायक ही नहीं हैं।

फलकी इच्छा न रखकर निष्कामभावसे तपका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्योंके लिये यहाँ उपर्युक्त पद आये हैं।

'**तपस्तत्त्रिविधम्**'—यहाँ केवल सात्त्विक तपमें 'त्रिविध' पद दिया है और राजस तथा तामस तपमें 'त्रिविध' पद न देकर '**यत्-तत्**' पद देकर ही काम चलाया है। इसका आशय यह है कि शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों तप केवल सात्त्विकमें ही सांगोपांग आ सकते हैं, राजस तथा तामसमें तो आंशिकरूपसे ही आ सकते हैं। इसमें भी राजसमें कुछ अधिक लक्षण आ जायँगे, क्योंकि राजस मनुष्यका शास्त्रविधिकी तरफ खयाल रहता है। परन्तु तामसमें तो उन तपोंके बहुत ही कम लक्षण आयेंगे; क्योंकि तामस मनुष्योंमें मूढ़ता, दूसरोंको कष्ट देना आदि दोष रहते हैं।

दूसरी बात, तेरहवें अध्यायमें सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक जो ज्ञानके बीस साधनोंका वर्णन आया है, उनमें भी शारीरिक तपके तीन लक्षण—शौच, आर्जव और अहिंसा तथा मानसिक तपके दो लक्षण—मौन और आत्मविनिग्रह आये हैं। ऐसे ही सोलहवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक जो दैवी-सम्पत्तिके छब्बीस लक्षण बताये गये हैं, उनमें भी शारीरिक तपके तीन लक्षण—शौच, अहिंसा और आर्जव तथा वाचिक तपके दो लक्षण—सत्य और स्वाध्याय आये हैं। अतः ज्ञानके जिन साधनोंसे तत्त्वबोध हो जाय तथा दैवी-सम्पत्तिके जिन गुणोंसे मुक्ति हो जाय, वे लक्षण या गुण राजस-तामस नहीं हो सकते। इसलिये राजस और तामस तपमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक—यह तीनों प्रकारका तप सांगोपांग नहीं लिया जा सकता। वहाँ तो '**यत्-तत्**' पदोंसे आंशिक जितना-जितना आ सके, उतना-उतना ही लिया जा सकता है।

तीसरी बात, भगवद्गीताका आदिसे अन्ततक अध्ययन करनेपर यह असर पड़ता है कि इसका उद्देश्य केवल जीवका कल्याण करनेका है। कारण कि अर्जुनका जो प्रश्न

*** शरीर, वाणी और मनका तप सांगोपांग-रूपसे तभी सम्पन्न होता है, जब नाशवान् वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेदका उद्देश्य रहता है।**

है, वह निश्चित श्रेय-(कल्याण-) का है (दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरे अध्यायका दूसरा और पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक)। भगवान्‌ने भी उत्तरमें जितने साधन बताये हैं, वे 'सब जीवोंका निश्चित कल्याण हो जाय'—इस लक्ष्यको लेकर ही बताये हैं। इसलिये गीतामें जहाँ-कहीं सात्त्विक, राजस और तामस भेद किया गया है, वहाँ जो सात्त्विक विभाग है, वह ग्राह्य है; क्योंकि वह मुक्ति देनेवाला है—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' और जो राजस-तामस विभाग है, वह त्याज्य है; क्योंकि वह बाँधनेवाला है—'**निबन्धायासुरी मता।**' इसी आशयसे भगवान् यहाँ सात्त्विक तपमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक—इन तीनों तपोंका लक्ष्य करानेके लिये '**त्रिविधम्**' पद देते हैं।

'**सात्त्विकं परिचक्षते**'—परम श्रद्धासे युक्त, फलको न चाहनेवाले मनुष्योंके द्वारा जो तप किया जाता है, वह सात्त्विक तप कहलाता है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

यत्	= जो	**दम्भेन**	= दिखानेके भावसे	**चलम्**	= अनिश्चित (और)
तपः	= तप	**एव**	= भी	**अध्रुवम्**	= नाशवान् फल देनेवाला (तप)
सत्कारमान-पूजार्थम्	= सत्कार, मान और पूजाके लिये	**क्रियते**	= किया जाता है,	**राजसम्**	= राजस
च	= तथा	**तत्**	= वह	**प्रोक्तम्**	= कहा गया है।
		इह	= इस लोकमें		

व्याख्या—'**सत्कारमानपूजार्थं तपः क्रियते**'— राजस मनुष्य सत्कार, मान और पूजाके लिये ही तप किया करते हैं; जैसे—हम जहाँ-कहीं जायँगे, वहाँ हमें तपस्वी समझकर लोग हमारी अगवानीके लिये सामने आयेंगे। गाँवभरमें हमारी सवारी निकालेंगे। जगह-जगह लोग हमें उत्थान देंगे, हमें बैठनेके लिये आसन देंगे, हमारे नामका जयघोष करेंगे, हमसे मीठा बोलेंगे, हमें अभिनन्दनपत्र देंगे इत्यादि बाह्य क्रियाओंद्वारा हमारा '**सत्कार**' करेंगे। लोग हृदयसे हमें श्रेष्ठ मानेंगे कि ये बड़े संयमी, सत्यवादी, अहिंसक सज्जन हैं, वे सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा हमारेमें विशेष भाव रखेंगे इत्यादि हृदयके भावोंसे लोग हमारा '**मान**' करेंगे। जीते-जी लोग हमारे चरण धोयेंगे, हमारे मस्तकपर फूल चढ़ायेंगे, हमारे गलेमें माला पहनायेंगे, हमारी आरती उतारेंगे, हमें प्रणाम करेंगे, हमारी चरणरजको सिरपर चढ़ायेंगे और मरनेके बाद हमारी वैकुण्ठी निकालेंगे, हमारा स्मारक बनायेंगे और लोग उसपर श्रद्धा-भक्तिसे पत्र, पुष्प, चन्दन, वस्त्र, जल आदि चढ़ायेंगे, हमारे स्मारककी परिक्रमा करेंगे इत्यादि क्रियाओंसे हमारी '**पूजा**' करेंगे।

'**दम्भेन चैव यत्**'—भीतरसे तपपर श्रद्धा और भाव न होनेपर भी बाहरसे केवल लोगोंको दिखानेके लिये आसन लगाकर बैठ जाना, माला घुमाने लग जाना, देवता आदिका पूजन करने लग जाना, सीधे-सरल चलना, हिंसा न करना आदि।

'**तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्**'—राजस तपका फल चल और अध्रुव कहा गया है। तात्पर्य है कि जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये किया जाता है, उस राजस तपका फल यहाँ 'चल' अर्थात् नाशवान् कहा गया है और जो तप केवल दिखावटीपनके लिये किया जाता है, उसका फल यहाँ 'अध्रुव' अर्थात् अनिश्चित (फल मिले या न मिले, दम्भ सिद्ध हो या न हो) कहा गया है।

'**इह प्रोक्तम्**' पदोंका तात्पर्य यह है कि इस राजस तपका इष्ट फल प्रायः यहाँ ही होता है। कारण कि सात्त्विक पुरुषोंका तो ऊर्ध्वलोक है, तामस मनुष्योंका अधोलोक है और राजस मनुष्योंका मध्यलोक है (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। इसलिये राजस तपका फल न स्वर्ग होगा और न नरक होगा; किन्तु यहाँ ही महिमा होकर, प्रशंसा होकर खत्म हो जायगा।

राजस मनुष्यके द्वारा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप हो सकता है क्या? फलेच्छा होनेसे वह देवता आदिका पूजन कर सकता है। उसमें कुछ सीधा-सरलपन भी रह सकता है। ब्रह्मचर्य रहना मुश्किल है। अहिंसा भी मुश्किल है। पुस्तक आदि पढ़ सकता है। उसका मन हरदम प्रसन्न

नहीं रह सकता और सौम्यभाव भी हरदम नहीं रह सकता। कामनाके कारण उसके मनमें संकल्प-विकल्प होते रहेंगे। वह केवल सत्कार, मान, पूजा और दम्भके लिये ही तप करता है, तो उसके भावकी संशुद्धि कैसे होगी अर्थात् उसके भाव शुद्ध कैसे होंगे? अतः राजस मनुष्य तीन प्रकारके तपको सांगोपांग नहीं कर सकता।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

यत्	= जो	**पीडया**	= पीड़ा देकर	**क्रियते**	= किया जाता है,
तपः	= तप	**वा**	= अथवा	**तत्**	= वह (तप)
मूढग्राहेण	= मूढ़तापूर्वक हठसे	**परस्य**	= दूसरोंको	**तामसम्**	= तामस
आत्मनः	= अपनेको	**उत्सादनार्थम्**	= कष्ट देनेके लिये	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

व्याख्या—'**मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः**'—तामस तपमें मूढ़तापूर्वक आग्रह होनेसे अपने-आपको पीड़ा देकर तप किया जाता है। तामस मनुष्योंमें मूढ़ताकी प्रधानता रहती है; अतः जिसमें शरीरको, मनको कष्ट हो, उसीको वे तप मानते हैं।

'**परस्योत्सादनार्थं वा**'—अथवा वे दूसरोंको दुःख देनेके लिये तप करते हैं। उनका भाव रहता है कि शक्ति प्राप्त करनेके लिये तप (संयम आदि) करनेमें मुझे भले ही कष्ट सहना पड़े, पर दूसरोंको नष्ट-भ्रष्ट तो करना ही है। तामस मनुष्य दूसरोंको दुःख देनेके लिये उन तीन (कायिक, वाचिक और मानसिक) तपोंके आंशिक भागके सिवाय मनमाने ढंगसे उपवास करना, शीत-घामको सहना आदि तप भी कर सकता है।

'**तत्तामसमुदाहृतम्**'—तामस मनुष्यका उद्देश्य ही दूसरोंको कष्ट देनेका, उनका अनिष्ट करनेका रहता है। अतः ऐसे उद्देश्यसे किया गया तप तामस कहलाता है।

[सात्त्विक मनुष्य फलकी इच्छा न रखकर परमश्रद्धासे तप करता है, इसलिये वास्तवमें वही मनुष्य कहलाने-लायक है। राजस मनुष्य सत्कार, मान, पूजा तथा दम्भके लिये तप करता है, इसलिये वह मनुष्य कहलानेलायक नहीं है; क्योंकि सत्कार, मान आदि तो पशु-पक्षियोंको भी प्रिय लगते हैं और वे बेचारे दम्भ भी नहीं करते! तामस मनुष्य तो पशुओंसे भी नीचे हैं; क्योंकि पशु-पक्षी स्वयं दुःख पाकर दूसरोंको दुःख तो नहीं देते, पर यह तामस मनुष्य तो स्वयं दुःख पाकर दूसरोंको दुःख देता है।]

परिशिष्ट भाव—'मूढग्राहेण' में तो शुद्ध तमोगुण है, पर '**परस्योत्सादनार्थम्**' में रजोगुण मिला हुआ है। मूढ़ता तमोगुण है और स्वार्थभाव, क्रोध आदि राजस हैं। क्रोध रजोगुणसे पैदा होकर तमोगुणमें चला जाता है—'**क्रोधाद्भवति सम्मोहः**' (गीता २।६३)।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके तीन श्लोकोंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस दानके लक्षण बताते हैं।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

दातव्यम्	= दान देना कर्तव्य है—	**च**	= तथा		निष्कामभावसे
इति	= ऐसे भावसे	**काले**	= काल	**दीयते**	= दिया जाता है,
यत्	= जो	**च**	= और	**तत्**	= वह
दानम्	= दान	**पात्रे**	= पात्रके प्राप्त होनेपर	**दानम्**	= दान
देशे	= देश	**अनुपकारिणे**	= अनुपकारीको अर्थात्	**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
				स्मृतम्	= कहा गया है।

व्याख्या—इस श्लोकमें दानके दो विभाग हैं—

(१) **'दातव्यमिति यद्दानं दीयते अनुपकारिणे'** और

(२) **'देशे काले च पात्रे च।'**

'दातव्यमिति .... देशे काले च पात्रे च'— केवल देना ही मेरा कर्तव्य है। कारण कि मैंने वस्तुओंको स्वीकार किया है अर्थात् उन्हें अपना माना है। जिसने वस्तुओंको स्वीकार किया है, उसीपर देनेकी जिम्मेवारी होती है। अत: देनामात्र मेरा कर्तव्य है—इस भावसे दान करना चाहिये। उसका यहाँ क्या फल होगा और परलोकमें क्या फल होगा—यह भाव बिलकुल नहीं होना चाहिये। 'दातव्य' का तात्पर्य ही त्यागमें है।

अब किसको दिया जाय? तो कहते हैं—**'दीयतेऽनुपकारिणे'** अर्थात् जिसने पहले कभी हमारा उपकार किया ही नहीं, अभी भी उपकार नहीं करता है और आगे हमारा उपकार करेगा, ऐसी सम्भावना भी नहीं है—ऐसे 'अनुपकारी' को निष्कामभावसे देना चाहिये। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिसने हमारा उपकार किया है, उसको न दे, प्रत्युत जिसने हमारा उपकार किया है, उसे देनेमें दान न माने। कारण कि केवल देनेमात्रसे सच्चे उपकारका बदला नहीं चुकाया जा सकता। अत: 'उपकारी' की भी अवश्य सेवा-सहायता करनी चाहिये, पर उसको दानमें भरती नहीं करना चाहिये। उपकारकी आशा रखकर देनेसे वह दान राजसी हो जाता है।

'देशे काले च पात्रे च'[1] पदोंके दो अर्थ होते हैं—

(१) जिस देशमें जो चीज नहीं है और उस चीजकी आवश्यकता है, उस देशमें वह चीज देना; जिस समय जिस चीजकी आवश्यकता है, उस समय वह चीज देना; और जिसके पास जो चीज नहीं है और उसकी आवश्यकता है, उस अभावग्रस्तको वह चीज देना।

(२) गंगा, यमुना, गोदावरी आदि नदियाँ और कुरुक्षेत्र, प्रयागराज, काशी आदि पवित्र देश प्राप्त होनेपर दान देना; अमावस्या, पूर्णिमा, व्यतिपात, अक्षय तृतीया, संक्रान्ति आदि पवित्र काल प्राप्त होनेपर दान देना; और वेदपाठी ब्राह्मण, सद्गुणी-सदाचारी भिक्षुक आदि उत्तम पात्र प्राप्त होनेपर दान देना।

'देशे काले च पात्रे च' पदोंसे उपर्युक्त दोनों ही अर्थ लेने चाहिये।

'तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्'—ऐसा दिया हुआ दान सात्त्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सृष्टिकी जितनी चीजें हैं, वे सबकी हैं और सबके लिये हैं, अपनी व्यक्तिगत नहीं हैं। इसलिये अनुपकारी व्यक्तिको भी जिस चीज—वस्तुकी आवश्यकता हो, वह चीज उसीकी समझकर उसको देनी चाहिये। जिसके पास वह वस्तु पहुँचेगी, वह उसीका हक है; क्योंकि यदि उसकी वस्तु नहीं है, तो दूसरा व्यक्ति चाहते हुए भी उसे वह वस्तु दे सकेगा नहीं। इसलिये पहलेसे यह समझे कि उसकी ही वस्तु उसको देनी है, अपनी वस्तु (अपनी मानकर) उसको नहीं देनी है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु अपनी नहीं है और अपने पास है अर्थात् उसको हमने अपनी मान रखी है, उस वस्तुको अपनी न माननेके लिये उसकी समझकर उसीको देनी है।

इस प्रकार जिस दानको देनेसे वस्तु, फल और क्रियाके साथ अपना सम्बन्ध-विच्छेद होता है, वह दान सात्त्विक कहा जाता है।

परिशिष्ट भाव—यह सात्त्विक दान वास्तवमें त्याग है। यह वह दान नहीं है, जिसके लिये कहा गया है—'एक गुना दान, सहस्रगुना पुण्य'; क्योंकि उस दानसे (सहस्रके साथ) सम्बन्ध जुड़ता है[2]। परन्तु त्यागसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। दानके बदलेमें कुछ पानेकी कामना करनेसे वह राजस हो जाता है—**'यत्तु प्रत्युपकारार्थम्'** (गीता १७। २१)। इस राजसभावका निषेध करनेके लिये यहाँ **'अनुपकारिणे'** पद आया है।

गीतामें वर्णित सात्त्विक गुण त्यागकी तरफ जाता है, इसलिये इसको भगवान्‌ने 'अनामय' कहा है (चौदहवें अध्यायका छठा श्लोक)। सत्त्वगुण सम्बन्ध-विच्छेद (त्याग) करता है, रजोगुण सम्बन्ध जोड़ता है और तमोगुण मूढ़ता लाता है।

१-यहाँ देश, काल और पात्र—तीनोंमें 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इस सूत्रसे सप्तमी की गयी है।

२-सुपात्रदानाच्च भवेद्धनाढ्यो धनप्रभावेण करोति पुण्यम्।
पुण्यप्रभावात्सुरलोकवासी पुनर्धनाढ्यः पुनरेव भोगी॥
कुपात्रदानाच्च भवेद्दरिद्रो दारिद्र्यदोषेण करोति पापम्।
पापप्रभावान्नरकं प्रयाति पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी॥

गीताके अनुसार दूसरेके हितके लिये कर्म करना 'यज्ञ' है, हरदम प्रसन्न रहना 'तप' है और उसकी चीज उसीको दे देना 'दान' है। स्वार्थबुद्धिपूर्वक अपने लिये यज्ञ-तप-दान करना आसुरी अथवा राक्षसी स्वभाव है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥

तु	= किन्तु	**वा**	= अथवा	**तत्**	= वह
यत्	= जो (दान)	**फलम्**	= फल-प्राप्तिका	**दानम्**	= दान
परिक्लिष्टम्	= क्लेशपूर्वक	**उद्दिश्य**	= उद्देश्य बनाकर	**राजसम्**	= राजस
च	= और	**पुनः**	= फिर	**स्मृतम्**	= कहा
प्रत्युपकारार्थम्	= प्रत्युपकारके लिये	**दीयते**	= दिया जाता है,		जाता है।

व्याख्या—**'यत्तु प्रत्युपकारार्थम्'**—राजस दान प्रत्युपकारके लिये दिया जाता है; जैसे—राजस पुरुष किसी विशेष अवसरपर दानकी चीजोंको गिन करके निकालता है, तो वह विचार करता है कि हमारे सगे-सम्बन्धीके जो कुल-पुरोहित हैं, उनको हम दान करेंगे, जिससे कि हमारे सगे-सम्बन्धी हमारे कुल-पुरोहितको दान करें और इस प्रकार हमारे कुल-पुरोहितके पास धन आ जायगा। अमुक पण्डितजी बड़े अच्छे हैं और ज्योतिष भी जानते हैं, उनको हम दान करेंगे, जिससे वे कभी यात्राका, पुत्रोंका तथा कन्याओंके विवाहका, नया मकान बनवानेका, कुआँ खुदवानेका मुहूर्त निकाल देंगे। हमारे सम्बन्धी हैं अथवा हमारा हित करनेवाले हैं, उनको हम सहायतारूपमें पैसे देंगे, तो वे कभी हमारी सहायता करेंगे, हमारा हित करेंगे। हमें दवाई देनेवाले जो पण्डितजी हैं; उनको हम दान करेंगे; क्योंकि दानसे राजी होकर वे हमें अच्छी-अच्छी दवाइयाँ देंगे, आदि-आदि। इस प्रकार प्रतिफलकी भावना रखकर अर्थात् इस लोकके साथ सम्बन्ध जोड़कर जो दान किया जाता है, वह 'प्रत्युपकारार्थ' कहा जाता है।

'फलमुद्दिश्य वा पुनः'—फलका उद्देश्य रखकर अर्थात् परलोकके साथ सम्बन्ध जोड़कर जो दान किया जाता है, उसमें भी राजस मनुष्य देश (गंगा, यमुना, कुरुक्षेत्र आदि), काल (अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण आदि) और पात्र (वेदपाठी ब्राह्मण आदि)-को देखेगा तथा शास्त्रीय विधि-विधानको देखेगा; परन्तु इस प्रकार विचारपूर्वक दान करनेपर भी फलकी कामना होनेसे वह दान राजस हो जाता है। अब उसके लिये दूसरे विधि-विधानका वर्णन करनेकी भगवान्ने आवश्यकता नहीं समझी, इसलिये राजस दानमें **'देशे काले च पात्रे'** पदोंका प्रयोग नहीं किया।

यहाँ **'पुनः'** पद कहनेका तात्पर्य है कि जिससे कुछ उपकार पाया है अथवा जिससे भविष्यमें कुछ-न-कुछ मिलनेकी सम्भावना है, उसका विचार राजस पुरुष पहले करता है, फिर पीछे दान देता है।

'दीयते च परिक्लिष्टम्'—राजस दान बहुत क्लेशपूर्वक दिया जाता है; जैसे—वक्त आ गया है, इसलिये देना पड़ रहा है। इतनी चीजें देंगे तो इतनी चीजें कम हो जायँगी। इतना धन देंगे तो इतना धन कम हो जायगा। वे समयपर हमारे काम आते हैं, इसलिये उनको देना पड़ रहा है। इतनेमें ही काम चल जाय तो बहुत अच्छी बात है। इतनेसे काम तो चल ही जायगा, फिर ज्यादा क्यों दें? ज्यादा देंगे तो और कहाँसे लायेंगे? और ज्यादा देनेसे लेनेवालेका स्वभाव बिगड़ जायगा। ज्यादा देनेसे हमारेको घाटा लग जायेगा, तो काम कैसे चलेगा? पर इतना तो देना ही पड़ रहा है, आदि-आदि। इस प्रकार राजस मनुष्य दान तो थोड़ा-सा देते हैं, पर कसाकसी करके देते हैं।

'तद्दानं राजसं स्मृतम्'—उपर्युक्त प्रकारसे दिया जानेवाला दान राजस कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

यत्	= जो	**अवज्ञातम्**	= अवज्ञापूर्वक	**दीयते**	= दिया जाता है,
दानम्	= दान	**अदेशकाले**	= अयोग्य देश और कालमें	**तत्**	= वह (दान)
असत्कृतम्	= बिना सत्कारके			**तामसम्**	= तामस
च	= तथा	**अपात्रेभ्यः**	= कुपात्रको	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

व्याख्या—'**असत्कृतमवज्ञातम्**'—तामस दान असत्कार और अवज्ञापूर्वक दिया जाता है; जैसे—तामस मनुष्यके पास कभी दान लेनेके लिये ब्राह्मण आ जाय, तो वह तिरस्कारपूर्वक उसको उलाहना देगा कि देखो पण्डितजी! जब हमारी माताका शरीर शान्त हुआ, तब भी आप नहीं आये; परन्तु क्या करें; आप हमारे घरके गुरु हो इसलिये हमें देना ही पड़ता है! इतनेमें ही घरका दूसरा आदमी बोल पड़ता है कि तुम क्यों ब्राह्मणोंके झंझटमें पड़ते हो? किसी गरीबको दे दो। जिसको कोई नहीं देता, उसको देना चाहिये। वास्तवमें वही दान है। ब्राह्मणको तो और कोई भी दे देगा, पर बेचारे गरीबको कौन देगा? पण्डितजी क्या आ गया, यह तो कुत्ता आ गया; टुकड़ा डाल दो, नहीं तो भौंकेगा आदि-आदि। इस प्रकार शास्त्रविधिका, ब्राह्मणोंका तिरस्कार करनेके कारण यह दान तामस कहलाता है।

'**अदेशकाले यद्दानम्**'—मूढ़ताके कारण तामस मनुष्यको अपने मनकी बातें ही जँचती हैं; जैसे—दान करनेके लिये देश-कालकी क्या जरूरत है? जब चाहे, तब कर दिया। जब किसी विशेष देश और कालमें ही पुण्य होगा, तो क्या यहाँ पुण्य नहीं होगा? इसके लिये अमुक समय आयेगा, अमुक पर्व आयेगा—इसकी क्या आवश्यकता? अपनी चीज खर्च करनी है, चाहे कभी दो, आदि-आदि। इस प्रकार तामस मनुष्य शास्त्रविधिका अनादर, तिरस्कार करके दान करते हैं। कारण कि उनके हृदयमें शास्त्रविधिका महत्त्व नहीं होता, प्रत्युत रुपयोंका महत्त्व होता है।

'**अपात्रेभ्यश्च दीयते**'—तामस दान अपात्रको किया जाता है। तामस मनुष्य कई प्रकारके तर्क-वितर्क करके पात्रका विचार नहीं करते; जैसे—शास्त्रोंमें देश, काल और पात्रकी बातें यों ही लिखी गयी हैं; कोई यहाँ दान लेगा तो क्या यहाँ उसका पेट नहीं भरेगा? तृप्ति नहीं होगी? जब पात्रको देनेसे पुण्य होता है, तो इनको देनेसे क्या पुण्य नहीं होगा? क्या ये आदमी नहीं हैं? क्या इनको देनेसे पाप लगेगा? अपनी जीविका चलानेके लिये, अपना मतलब सिद्ध करनेके लिये ही ब्राह्मणोंने शास्त्रोंमें ऐसा लिख दिया है, आदि-आदि।

'**तत्तामसमुदाहृतम्**'—उपर्युक्त प्रकारसे दिया जानेवाला दान तामस कहा गया है।

शंका—गीतामें तामस-कर्मका फल अधोगति बताया है—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (१४। १८) और रामचरितमानसमें बताया है कि जिस-किसी प्रकारसे भी दिया हुआ दान कल्याण करता है—

'**जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥**'

(मानस ७। १०३ ख)

इन दोनोंमें विरोध आता है?

समाधान—तामस मनुष्य अधोगतिमें जाते हैं—यह कानून दानके विषयमें लागू नहीं होता। कारण कि धर्मके चार चरण हैं—'**सत्यं दया तपो दानमिति**' (श्रीमद्भा० १२। ३। १८)। इन चारों चरणोंमेंसे कलियुगमें एक ही चरण 'दान' है—'**दानमेकं कलौ युगे**' (मनुस्मृति १। ८६)। इसलिये गोस्वामीजी महाराजने कहा—

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥

(मानस ७। १०३ ख)

ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि किसी प्रकार भी दान दिया जाय, उसमें वस्तु आदिके साथ अपनेपनका त्याग करना ही पड़ता है। इस दृष्टिसे तामस दानमें भी आंशिक त्याग होनेसे दान देनेवाला अधोगतिके योग्य नहीं हो सकता।

दूसरी बात, इस कलियुगके समय मनुष्योंका अन्तःकरण बहुत मलिन हो रहा है। इसलिये कलियुगमें एक छूट है कि जिस-किसी प्रकार भी किया हुआ दान कल्याण करता है। इससे मनुष्यका दान करनेका स्वभाव तो बन ही जायगा, जो आगे कभी किसी जन्ममें कल्याण भी कर सकता है। परन्तु दानकी क्रिया ही बन्द हो जायगी, तो फिर देनेका स्वभाव बननेका कोई अवसर ही प्राप्त नहीं होगा। इसी दृष्टिसे एक संतने '**श्रद्धया देयमश्रद्धयादेयम्**' (तैत्तिरीय० १। ११) —इस श्रुतिकी व्याख्या करते हुए कहा था कि इसमें पहले पदका अर्थ तो यह है कि श्रद्धासे देना चाहिये, पर दूसरे पदका अर्थ '**अश्रद्धया अदेयम्**' (अश्रद्धासे नहीं देना चाहिये)—ऐसा न लेकर '**अश्रद्धया देयम्**' (श्रद्धा न हो, तो भी देना चाहिये)—इस प्रकार लेना चाहिये।

दान-सम्बन्धी विशेष बात

अन्न, जल, वस्त्र और औषध—इन चारोंके दानमें पात्र-कुपात्र आदिका विशेष विचार नहीं करना चाहिये। इनमें केवल दूसरेकी आवश्यकताको ही देखना चाहिये। इसमें भी देश, काल, और पात्र मिल जाय, तो उत्तम बात और न मिले, तो कोई बात नहीं। हमें तो जो भूखा है, उसे अन्न देना है; जो प्यासा है, उसे जल देना है; जो वस्त्रहीन है, उसे वस्त्र देना है और जो रोगी है, उसे औषध देनी है। इसी प्रकार कोई किसीको अनुचितरूपसे भयभीत कर रहा है, दुःख दे रहा है, तो उससे उसको छुड़ाना और उसे अभयदान देना हमारा कर्तव्य है।

हाँ, कुपात्रको अन्न-जल इतना नहीं देना चाहिये कि जिससे वह पुनः हिंसा आदि पापोंमें प्रवृत्त हो जाय; जैसे कोई हिंसक मनुष्य अन्न-जलके बिना मर रहा है, तो उसको उतना ही अन्न-जल दे कि जिससे उसके प्राण रह जायँ, वह जी जाय। इस प्रकार उपर्युक्त चारोंके दानमें पात्रता नहीं देखनी है, प्रत्युत आवश्यकता देखनी है।

भगवान्‌का भक्त भी वस्तु देनेमें पात्र नहीं देखता, वह तो दिये जाता है; क्योंकि वह सबमें अपने प्यारे प्रभुको ही देखता है कि इस रूपमें तो हमारे प्रभु ही आये हैं। अतः वह दान नहीं करता, कर्तव्य-पालन नहीं करता, प्रत्युत पूजा करता है—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' (गीता १८।४६)। तात्पर्य यह है कि भक्तकी सम्पूर्ण क्रियाओंका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ होता है।

कर्मफल-सम्बन्धी विशेष बात

ग्यारहवेंसे बाईसवें श्लोकतकके इस प्रकरणमें जो सात्त्विक यज्ञ, तप और दान आये हैं, वे सब-के-सब 'दैवी-सम्पत्ति' हैं और जो राजस तथा तामस यज्ञ, तप और दान आये हैं, वे सब-के-सब 'आसुरी-सम्पत्ति' हैं।

आसुरी सम्पत्तिमें आये हुए 'राजस' यज्ञ, तप और दानके फलके दो विभाग हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमें भी दृष्टके दो फल हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। जैसे—राजस भोजनके बाद तृप्तिका होना तात्कालिक फल है और रोग आदिका होना कालान्तरिक फल है। ऐसे ही अदृष्टके भी दो फल हैं—लौकिक और पारलौकिक। जैसे—दम्भपूर्वक '**दम्भार्थमपि चैव यत्**' (१७।१२), सत्कार-मान-पूजाके लिये '**सत्कारमानपूजार्थम्**' (१७।१८) और प्रत्युपकारके लिये '**प्रत्युपकारार्थम्**' (१७।२१) किये गये राजस यज्ञ, तप और दानका फल 'लौकिक' है और वह इसी लोकमें, इसी जन्ममें, इसी शरीरके रहते-रहते ही मिलनेकी सम्भावनावाला होता है[1]। स्वर्गको ही परम प्राप्य वस्तु मानकर उसकी प्राप्तिके लिये किये गये यज्ञ आदिका फल 'पारलौकिक' होता है। परन्तु राजस यज्ञ '**अभिसन्धाय तु फलम्**' (१७।१२) और दान '**फलमुद्दिश्य वा पुनः**' (१७।२१) का फल लौकिक तथा पारलौकिक—दोनों ही हो सकता है। इसमें भी स्वर्ग-प्राप्तिके लिये यज्ञ आदि करनेवाले (दूसरे अध्यायका बयालीसवाँ-तैंतालीसवाँ और नवें अध्यायका बीसवाँ-इक्कीसवाँ श्लोक) और केवल दम्भ, सत्कार, मान, पूजा, प्रत्युपकार आदिके लिये यज्ञ, तप और दान करनेवाले (सत्रहवें अध्यायका बारहवाँ, अठारहवाँ और इक्कीसवाँ श्लोक) दोनों प्रकारके राजस पुरुष जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं[2]। परन्तु तामस यज्ञ और तप करनेवाले (सत्रहवें अध्यायका तेरहवाँ और उन्नीसवाँ श्लोक) तामस पुरुष तो अधोगतिमें जाते हैं—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (१४।१८), '**पतन्ति नरकेऽशुचौ**' (१६।१६), '**आसुरीष्वेव योनिषु**' (१६।१९) '**ततो यान्त्यधमां गतिम्**' (१६।२०)।

जो मनुष्य यज्ञ करके स्वर्गमें जाते हैं, उनको स्वर्गमें भी दुःख, जलन, ईर्ष्या आदि होते हैं[3]। जैसे—शतक्रतु

१-राजसके दृष्टका कालान्तरिक फल और अदृष्टका लौकिक फल—दोनों एक-जैसे दीखते हुए भी इनमें अन्तर है; जैसे—भोजनके परिणामस्वरूप जो रोग आदि होंगे, वह भौतिक (कालान्तरिक) फल है अर्थात् वह सीधे भोजनका ही परिणाम है और पुत्रेष्टि यज्ञ आदिका जो फल होगा, वह आधिदैविक (लौकिक) फल है अर्थात् वह प्रारब्ध बनकर फल (पुत्रादि)-के रूपमें आता है।

२-यदि राजस पुरुषोंका दम्भ (सत्रहवें अध्यायका बारहवाँ और अठारहवाँ श्लोक) अधिक बढ़ जाय, तो वे नरकोंमें भी जा सकते हैं।

३-स्वर्गमें भी यज्ञ आदि पुण्यकर्मोंके अनुसार उच्च, मध्यम और कनिष्ठ—ऐसी तीन तरहकी श्रेणियाँ होती हैं। उनमें भी उच्च श्रेणीवाले जब अपने समान श्रेणीवालोंको देखते हैं, तब उन्हें ईर्ष्या होती है कि ये हमारे समान पदपर क्यों आये?

इन्द्रको भी असुरोंके अत्याचारोंसे दु:ख होता है, कोई तपस्या करे तो उसके हृदयमें जलन होती है, वह भयभीत होता है। इसे पूर्वजन्मके पापोंका फल भी नहीं कह सकते; क्योंकि उनके स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो जाते हैं—'**पूतपापा:**' (९। २०) और वे यज्ञके पुण्योंसे स्वर्गलोकको जाते हैं। फिर उनको दु:ख, जलन, भय आदिका होना किन पापोंका फल है? इसका उत्तर यह है कि यह सब यज्ञमें की हुई पशु-हिंसाके पापका ही फल है।

दूसरी बात, यज्ञ आदि सकामकर्म करनेसे अनेक तरहके दोष आते हैं। गीतामें आया है—'**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:**' (१८। ४८) अर्थात् धुएँसे अग्निकी तरह सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं। जब सभी कर्मोंके आरम्भमात्रमें भी दोष रहता है, तब सकामकर्मोंमें तो (सकामभाव होनेसे) दोषोंकी सम्भावना ज्यादा ही होती है और उनमें अनेक तरहके दोष बनते ही हैं। इसलिये शास्त्रोंमें यज्ञ करनेके बाद प्रायश्चित्त करनेका विधान है। प्रायश्चित्त-विधानसे यह सिद्ध होता है कि यज्ञमें दोष (पाप) अवश्य होते हैं। अगर दोष न होते, तो प्रायश्चित्त किस बातका? परन्तु वास्तवमें प्रायश्चित्त करनेपर भी सब दोष दूर नहीं होते, उनका कुछ अंश रह जाता है; जैसे—मैल लगे वस्त्रको साबुनसे धोनेपर भी उसके तन्तुओंके भीतर थोड़ी मैल रह जाती है। इसी कारण इन्द्रादिक देवताओंको भी प्रतिकूल-परिस्थितिजन्य दु:ख भोगना पड़ता है।

वास्तवमें दोषोंकी पूर्ण निवृत्ति तो निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करके उन कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देनेसे ही होती है। इसलिये निष्कामभावसहित किये गये कर्म ही श्रेष्ठ हैं। सबसे बड़ी शुद्धि (दोष-निवृत्ति) होती है—'मैं तो केवल भगवान्‌का ही हूँ', इस प्रकार अहंता-परिवर्तनपूर्वक भगवत्प्राप्तिका उद्‌देश्य बनानेसे। इससे जितनी शुद्धि होती है, उतनी कर्मोंसे नहीं होती*। भगवान्‌ने कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५। ४४। १)

तीसरी बात, गीतामें अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पापका आचरण क्यों करता है? तो उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—'**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:**' (३। ३७)। तात्पर्य है कि रजोगुणसे उत्पन्न कामना ही पाप कराती है। इसलिये कामनाको लेकर किये जानेवाले राजस यज्ञकी क्रियाओंमें पाप हो सकते हैं।

राजस तथा तामस यज्ञ आदि करनेवाले आसुरी-सम्पत्तिवाले हैं और सात्त्विक यज्ञ आदि करनेवाले दैवी-सम्पत्तिवाले हैं; परन्तु दैवी-सम्पत्तिके गुणोंमें भी यदि 'राग' हो जाता है, तो रजोगुणका धर्म होनेसे वह राग भी बन्धनकारक हो जाता है (गीता—चौदहवें अध्यायका छठा श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—शास्त्रमें आया है कि कलियुगमें दान ही एकमात्र धर्म है; अत: जिस-किसी प्रकारसे भी दान दिया जाय, वह कल्याण ही करता है। इसका तात्पर्य है कि कलियुगमें यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि शुभकर्म विधिपूर्वक करने कठिन हैं; अत: किसी तरहसे देनेकी, त्याग करनेकी आदत पड़ जाय। इसलिये जिस-किसी प्रकारसे भी दान देते रहना चाहिये।

और मध्यम तथा कनिष्ठ श्रेणीवालोंको देखकर उनके मनमें अभिमान होता है कि हम कितने बड़े हैं!

मध्यम श्रेणीवाले जब अपनेसे उच्च श्रेणीवालोंको देखते हैं, तो उनकी भोग-सामग्री, पद, अधिकार आदिको देखकर उन्हें जलन होती है और कनिष्ठ श्रेणीवालोंको देखकर अभिमान होता है।

कनिष्ठ श्रेणीवालोंमें उच्च और मध्यम श्रेणीवालोंको देखकर असहिष्णुता होती है, जलन होती है कि उनके पास इतनी भोग-सामग्री क्यों है? वे इतने ऊँचे पद-अधिकारपर क्यों गये हैं? और अपने समान श्रेणीवालोंको देखकर ईर्ष्या होती है कि ये हमारे समान कैसे आकर बैठे हैं, तथा जो स्वर्गमें नहीं आये हैं, उनको देखकर अभिमान होता है कि हम कितने उच्च स्थान—स्वर्गमें हैं!

स्वर्गमें जो स्थिति है, वह भी तो नित्य नहीं है; क्योंकि किसी भी श्रेणीवाले क्यों न हों, पुण्य क्षीण हो जानेपर उनको भी मृत्युलोकमें आना पड़ता है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९। २१) और इसकी चिन्ता, इसका भय सदा बना रहता है कि यह स्थिति हमारी रहेगी नहीं, एक दिन चली जायगी।

*** दूसरोंकी उन्नति सही न जाय, ईर्ष्या हो जाय आदि जितने भी दोष हैं, वे पूर्वकृत कर्मोंके फल नहीं हैं। वे सब दोष अन्त:करणकी अशुद्धिके कारण ही होते हैं। शास्त्रविहित सकाम कर्मोंको करनेसे अन्त:करणकी सर्वथा शुद्धि नहीं होती, प्रत्युत आंशिक शुद्धि होती है, जिससे स्वर्गादि लोकोंके भोगोंको भोगते हैं। अन्त:करणकी अशुद्धि सर्वथा तभी मिटती है, जब उद्‌देश्य केवल भगवान्‌का ही हो।**

सम्बन्ध—सोलहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें दैवी-सम्पत्ति मोक्षके लिये और आसुरी-सम्पत्ति बन्धनके लिये बतायी है। दैवी-सम्पत्तिको धारण करनेवाले सात्त्विक मनुष्य परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे जो यज्ञ, तप और दानरूप कर्म करते हैं, उन कर्मोंमें होनेवाली (भाव, विधि, क्रिया आदिकी) कमीकी पूर्तिके लिये क्या करना चाहिये? इसे बतानेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

ॐ	= ॐ,	**ब्रह्मणः**	= (जिस) परमात्माका	**वेदाः**	= वेदों
तत्	= तत्,	**निर्देशः**	= निर्देश (संकेत)	**च**	= तथा
सत्	= सत्—			**ब्राह्मणाः**	= ब्राह्मणों
इति	= इन	**स्मृतः**	= किया गया है,	**च**	= और
त्रिविधः	= तीन प्रकारके नामोंसे	**तेन**	= उसी परमात्मासे	**यज्ञाः**	= यज्ञोंकी
		पुरा	= सृष्टिके आदिमें	**विहिताः**	= रचना हुई है।

व्याख्या—'**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः**'—ॐ, तत् और सत्—यह तीन प्रकारका परमात्माका निर्देश है अर्थात् परमात्माके तीन नाम हैं (इन तीनों नामोंकी व्याख्या भगवान्ने आगेके चार श्लोकोंमें की है)।

'**ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा**'—उस परमात्माने पहले (सृष्टिके आरम्भमें) वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञोंको बनाया। इन तीनोंमें विधि बतानेवाले वेद हैं, अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मण हैं और क्रिया करनेके लिये यज्ञ हैं। अब इनमें यज्ञ, तप, दान आदिकी क्रियाओंमें कोई कमी रह जाय, तो क्या करें? परमात्माका नाम लें तो उस कमीकी पूर्ति हो जायगी। जैसे रसोई बनानेवाला जलसे आटा सानता (गूँधता) है, तो कभी उसमें जल अधिक पड़ जाय, तो वह क्या करता है? आटा और मिला लेता है। ऐसे ही कोई निष्कामभावसे यज्ञ, दान आदि शुभकर्म करे और उनमें कोई कमी—अंग-वैगुण्य रह जाय, तो जिस भगवान्से यज्ञ आदि रचे गये हैं, उस भगवान्का नाम लेनेसे वह अंग-वैगुण्य ठीक हो जाता है, उसकी पूर्ति हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—'महानिर्वाणतन्त्र' में आया है—

ॐ तत्सदिति मन्त्रेण यो यत्कर्म समाचरेत्।
गृहस्थो वाप्युदासीनस्तस्याभीष्टाय तद् भवेत्॥
जपो होमः प्रतिष्ठा च संस्काराद्यखिलाः क्रियाः।
ॐ तत्सन्मन्त्रनिष्पन्नाः सम्पूर्णाः स्युर्न संशयः॥

(१४। १५४-१५५)

'**ॐ तत् सत्**'—इस मन्त्रसे गृहस्थ अथवा उदासीन (साधु) जो भी कर्म आरम्भ करता है, उसको इससे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। जप, होम, प्रतिष्ठा, संस्कार आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ 'ॐ तत् सत्'—इस मन्त्रसे सफल हो जाती हैं, इसमें सन्देह नहीं है।'

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

तस्मात्	= इसलिये	**यज्ञदानतपःक्रियाः**	= यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ	**इति**	= इस परमात्माके नामका
ब्रह्मवादिनाम्	= वैदिक सिद्धान्तोंको माननेवाले पुरुषोंकी	**सततम्**	= सदा	**उदाहृत्य**	= उच्चारण करके (ही)
विधानोक्ताः	= शास्त्रविधिसे नियत	**ओम्**	= 'ॐ'	**प्रवर्तन्ते**	= आरम्भ होती हैं।

व्याख्या—'**तस्मादोमित्युदाहृत्य ..... ब्रह्मवादिनाम्**'—वेदवादीके लिये अर्थात् वेदोंको मुख्य माननेवाला जो वैदिक सम्प्रदाय है, उसके लिये 'ॐ' का उच्चारण करना खास बताया है। वे 'ॐ' का उच्चारण करके ही वेदपाठ, यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं; क्योंकि जैसे गायें साँड़के बिना फलवती नहीं होतीं, ऐसे ही वेदकी जितनी ऋचाएँ हैं, श्रुतियाँ हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण किये बिना फलवती नहीं होतीं अर्थात् फल नहीं देतीं।

'ॐ' का सबसे पहले उच्चारण क्यों किया जाता है? कारण कि सबसे पहले 'ॐ'—प्रणव प्रकट हुआ है। उस प्रणवकी तीन मात्राएँ हैं। उन मात्राओंसे त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई है और त्रिपदा गायत्रीसे ऋक्, साम और यजुः—यह वेदत्रयी प्रकट हुई है। इस दृष्टिसे 'ॐ' सबका मूल है और इसीके अन्तर्गत गायत्री भी है तथा सब-के-सब वेद भी हैं। अतः जितनी वैदिक क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण करके ही की जाती हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥

तत्	= 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माके लिये ही सब कुछ है—	**मोक्षकाङ्क्षिभिः**	= मुक्ति चाहनेवाले मनुष्योंद्वारा	**यज्ञतपः- क्रियाः**	= यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ
इति	= ऐसा मानकर	**फलम्**	= फलकी	**च**	= तथा
		अनभिसन्धाय	= इच्छासे रहित होकर	**दानक्रियाः**	= दानरूप क्रियाएँ
		विविधाः	= अनेक प्रकारकी	**क्रियन्ते**	= की जाती हैं।

व्याख्या—'**तदित्यनभिसन्धाय ..... मोक्षकाङ्क्षिभिः**'—केवल उस परमात्माकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे, किंचिन्मात्र भी फलकी इच्छा न रखकर शास्त्रीय यज्ञ, तप, दान आदि शुभकर्म किये जायँ। कारण कि विहित-निषिद्ध, शुभ-अशुभ आदि क्रियामात्रका आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। ऐसे ही उस क्रियाका जो फल होता है, उसका भी संयोग होता है और वियोग होता है अर्थात् कर्मफलके भोगका भी आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। परन्तु परमात्मा तो उस क्रिया और फलभोगके आरम्भ होनेसे पहले भी हैं तथा क्रिया और फलभोगकी समाप्तिके बाद भी हैं एवं क्रिया और फलभोगके समय भी वैसे-के-वैसे हैं। परमात्माकी सत्ता नित्य-निरन्तर है। नित्य-निरन्तर रहनेवाली इस सत्ताकी तरफ ध्यान दिलानेमें ही '**तत् इति**' पदोंका तात्पर्य है; और उत्पत्ति-विनाशशील फलकी तरफ ध्यान न देनेमें ही '**अनभिसन्धाय फलम्**' पदोंका तात्पर्य है; अर्थात् नित्य-निरन्तर रहनेवाले तत्त्वकी स्मृति रहनी चाहिये और नाशवान् फलकी अभिसंधि (इच्छा) बिलकुल नहीं रहनी चाहिये।

नित्य-निरन्तर वियुक्त होनेवाले, प्रतिक्षण अभावमें जानेवाले इस संसारमें जो कुछ देखने, सुनने और जाननेमें आता है, उसीको हम प्रत्यक्ष, सत्य मान लेते हैं और उसीकी प्राप्तिमें हम अपनी बुद्धिमानी और बलको सफल मानते हैं। इस परिवर्तनशील संसारको प्रत्यक्ष माननेके कारण ही सदा-सर्वदा सर्वत्र परिपूर्ण रहता हुआ भी वह परमात्मा हमें प्रत्यक्ष नहीं दीखता। इसलिये एक परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य रखकर उस संसारका अर्थात् अहंता-ममता (मैं-मेरेपन)-का त्याग करके, उन्हींकी दी हुई शक्तिसे, यज्ञ आदिको उन्हींका मानकर निष्कामभावपूर्वक उन्हींके लिये यज्ञ आदि शुभकर्म करने चाहिये। इसीमें ही मनुष्यकी वास्तविक बुद्धिमानी और बल-(पुरुषार्थ-) की सफलता है। तात्पर्य यह है कि जो संसार प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है, उसका तो निराकरण करना है और जिसको अप्रत्यक्ष मानते हैं, उस '**तत्**' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका अनुभव करना है, जो नित्य-निरन्तर प्राप्त है।

भगवान्‌के भक्त (भगवान्‌का उद्देश्य रखकर) '**तत्**' पदके बोधक राम, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, वासुदेव, शिव आदि नामोंका उच्चारण करके सब क्रियाएँ आरम्भ करते हैं।

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, जप, स्वाध्याय, ध्यान, समाधि आदि जो भी क्रियाएँ करते हैं, वे सब भगवान्‌के लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌की आज्ञा-पालनके लिये ही करते हैं, अपने लिये नहीं। कारण कि जिनसे क्रियाएँ की जाती हैं, वे शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि सभी परमात्माके ही हैं, हमारे नहीं हैं। जब शरीर आदि हमारे नहीं हैं, तो घर, जमीन-जायदाद, रुपये-पैसे, कुटुम्ब आदि भी हमारे नहीं हैं। ये सभी प्रभुके हैं और इनमें जो सामर्थ्य, समझ आदि है, वह भी सब प्रभुकी है और हम खुद भी प्रभुके ही हैं। हम प्रभुके हैं और प्रभु हमारे हैं—इस भावसे वे सब क्रियाएँ प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही करते हैं।

परिशिष्ट भाव—परमात्माके लिये परोक्षवाचक '**तत्**' (वह) पदके प्रयोगका तात्पर्य है कि परमात्मा अलौकिक हैं—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः**' (गीता १५। १७)। वे विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं।

सम्बन्ध—चौबीसवें श्लोकमें 'ॐ' की और पचीसवें श्लोकमें 'तत्' शब्दकी व्याख्या करके अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें पाँच प्रकारसे 'सत्' शब्दकी व्याख्या करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

पार्थ	= हे पार्थ!	**च**	= और	**प्रशस्ते**	= प्रशंसनीय
सत्	= 'सत्'—	**साधुभावे**	= श्रेष्ठ भावमें	**कर्मणि**	= कर्मके साथ
इति	= ऐसा	**प्रयुज्यते**	= प्रयोग किया जाता है	**सत्**	= 'सत्'
एतत्	= यह परमात्माका नाम			**शब्दः**	= शब्द
सद्भावे	= सत्तामात्रमें	**तथा**	= तथा	**युज्यते**	= जोड़ा जाता है।

व्याख्या—'**सद्भावे**'—'परमात्मा हैं' इस प्रकार परमात्माकी सत्ता-(होनेपन-) का नाम 'सद्भाव' है। उस परमात्माके सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि जितने रूप हैं और सगुण-साकारमें भी उसके विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि जितने अवतार हैं, वे सब-के-सब 'सद्भाव' के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार जिसका किसी देश, काल, वस्तु आदिमें कभी अभाव नहीं होता, ऐसे परमात्माके जो अनेक रूप हैं, अनेक नाम हैं, अनेक तरहकी लीलाएँ हैं, वे सब-के-सब 'सद्भाव' के अन्तर्गत हैं।

'**साधुभावे**'—परमात्मप्राप्तिके लिये अलग-अलग सम्प्रदायोंमें अलग-अलग जितने साधन बताये गये हैं, उनमें हृदयके जो दया, क्षमा आदि श्रेष्ठ, उत्तम भाव हैं, वे सब-के-सब 'साधुभाव' के अन्तर्गत हैं।

'**सदित्येतत्प्रयुज्यते**'—सत्तामें और श्रेष्ठतामें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है अर्थात् जो सदा है, जिसमें कभी किंचिन्मात्र भी कमी और अभाव नहीं होता—ऐसे परमात्माके लिये और उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये दैवी-सम्पत्तिके जो सत्य, क्षमा, उदारता, त्याग आदि श्रेष्ठ गुण हैं, उनके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है; जैसे—सत्-तत्त्व, सद्‌गुण, सद्भाव आदि।

'**प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते**'—परमात्मप्राप्तिके लिये अलग-अलग सम्प्रदायोंमें अलग-अलग जितने साधन बताये गये हैं, उनमें क्रियारूपसे जितने श्रेष्ठ आचरण हैं, वे सब-के-सब '**प्रशस्ते कर्मणि**' के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार शास्त्रविधिके अनुसार यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कार; अन्नदान, भूमिदान, गोदान आदि दान; और कुआँ-बावड़ी खुदवाना, धर्मशाला बनवाना, मन्दिर बनवाना, बगीचा लगवाना आदि श्रेष्ठ कर्म भी '**प्रशस्ते कर्मणि**' के अन्तर्गत आते हैं। इन सब श्रेष्ठ आचरणोंमें, श्रेष्ठ कर्मोंमें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है; जैसे—सदाचार, सत्कर्म, सत्सेवा, सद्व्यवहार आदि।

परिशिष्ट भाव—परमात्माके अस्तित्व या होनेपनको '**सद्भाव**' कहते हैं, जिसका कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। प्रायः सभी आस्तिक यह भाव तो मानते ही हैं कि सर्वोपरि सर्वनियन्ता

कोई विलक्षण शक्ति सदासे है और वह अपरिवर्तनशील है। जो संसार प्रत्यक्ष प्रतिक्षण बदलता है तथा जिसका अभाव होता है, उसको 'है' अथवा स्थिर कैसे कहा जाय? कारण कि इन्द्रियों, बुद्धि आदिसे जिसको देखते, जानते हैं, वह संसार पहले नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी जा रहा है—यह सभीका अनुभव है। जिनसे संसारको देखते, जानते हैं, वे इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि भी संसारके ही हैं। फिर भी आश्चर्य यह है कि 'नहीं' होते हुए भी संसार 'है' के रूपमें स्थिर दिखायी दे रहा है! अगर संसार वास्तवमें होता तो बदलता नहीं और बदलता है तो 'है' नहीं। अत: यह 'होनापन' संसार-शरीरादिका नहीं है, प्रत्युत सत्-तत्त्व (परमात्मा)-का है, जिससे नहीं होते हुए भी संसार 'है' दीखता है।

अन्त:करणके श्रेष्ठ भावोंको 'साधुभाव' कहते हैं। परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे श्रेष्ठ भावोंके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। श्रेष्ठ भाव अर्थात् सद्गुण-सदाचार दैवी-सम्पत्ति है। दैवी-सम्पत्ति 'सत्' है और आसुरी-सम्पत्ति 'असत्' है। मुक्ति देनेवाले सब साधन 'सत्' हैं और बन्धनकारक सब कर्म 'असत्' हैं। दुर्गुण-दुराचार 'असत्' हैं, पर उनका त्याग 'सत्' है। असत्का त्याग भी 'सत्' है और सत्का ग्रहण भी 'सत्' है। वास्तवमें असत्के त्यागकी जितनी जरूरत है, उतनी 'सत्' को ग्रहण करनेकी जरूरत नहीं है। 'असत्' का त्याग किये बिना लाया गया 'सत्' ऊपरसे चिपकाया जाता है, जो ठहरता नहीं। परन्तु असत्का त्याग करनेसे 'सत्' भीतरसे उदय होता है। अत: जिसको हम असत्-रूपसे जानते हैं, उसका त्याग करनेसे 'सत्' का अनुभव हो जाता है।

यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, व्रत, पूजा-पाठ, विवाह आदि जितने भी शास्त्रविहित शुभकर्म हैं, वे स्वयं ही प्रशंसनीय होनेसे सत्कर्म हैं। परन्तु इन प्रशंसनीय कर्मोंका सम्बन्ध अगर भगवान्के साथ न हो तो ये 'सत्' न कहलाकर केवल शास्त्रविहित कर्ममात्र रह जाते हैं। यद्यपि दैत्य-दानव भी तपस्या आदि प्रशंसनीय कर्म करते हैं, तथापि असद्भाव अर्थात् अपने स्वार्थ और दूसरेके अहितका भाव होनेसे वे बाँधनेवाले असत्-कर्म हो जाते हैं। (इसी अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। उनसे अगर ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो वहाँसे लौटकर आना पड़ता है—'**आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)। भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाले मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते—'**न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति**' (गीता ६। ४०); क्योंकि उसका फल 'सत्' होता है। जो कर्म स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके प्राणिमात्रके हितके भावसे किये जाते हैं, वही वास्तवमें प्रशंसनीय सत्कर्म होते हैं।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

यज्ञे	= यज्ञ	**एव**	= (वह) भी		जानेवाला
च	= तथा	**सत्**	= 'सत्'—	**कर्म**	= कर्म
तपसि	= तप	**इति**	= ऐसे	**एव**	= भी
च	= और	**उच्यते**	= कही जाती है	**सत्**	= 'सत्'—
दाने	= दानरूप क्रियामें (जो)	**च**	= और	**इति**	= ऐसा
स्थितिः	= स्थिति (निष्ठा) है,	**तदर्थीयम्**	= उस परमात्माके निमित्त किया	**अभिधीयते**	= कहा जाता है।

व्याख्या—'**यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते**'—यज्ञ, तप और दानरूप प्रशंसनीय क्रियाओंमें जो स्थिति (निष्ठा) होती है, वह 'सत्' कही जाती है। जैसे, किसीकी सात्त्विक यज्ञमें, किसीकी सात्त्विक तपमें और किसीकी सात्त्विक दानमें जो स्थिति—निष्ठा है अर्थात् इनमेंसे एक-एक चीजके प्रति हृदयमें जो श्रद्धा है और इन्हें करनेकी जो तत्परता है, वह 'सन्निष्ठा' (सत्-निष्ठा) कही जाती है।

'**च**' पद देनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लोगोंकी सात्त्विक यज्ञ, तप और दानमें श्रद्धा—निष्ठा होती है, ऐसे ही किसीकी वर्णधर्ममें, किसीकी आश्रमधर्ममें, किसीकी सत्यव्रत-पालनमें, किसीकी अतिथि-सत्कारमें, किसीकी सेवामें, किसीकी आज्ञा-पालनमें, किसीकी पातिव्रत-धर्ममें और किसीकी गंगाजीमें, किसीकी यमुनाजीमें, किसीकी प्रयागराज आदि विशेष तीर्थोंमें जो हृदयसे श्रद्धा है, उनमें जो रुचि,

विश्वास और तत्परता है, वह भी 'सन्निष्ठा' कही जाती है।

'**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते**'—उन प्रशंसनीय कर्मोंके अलावा कर्मोंके दो तरहके स्वरूप होते हैं—लौकिक (स्वरूपसे ही संसार-सम्बन्धी) और पारमार्थिक (स्वरूपसे ही भगवत्सम्बन्धी):—

(१) वर्ण और आश्रमके अनुसार जीविकाके लिये यज्ञ, अध्यापन, व्यापार, खेती आदि व्यावहारिक कर्तव्य-कर्म और खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जगना आदि शारीरिक कर्म—ये सभी 'लौकिक' हैं।

(२) जप-ध्यान, पाठ-पूजा, कथा-कीर्तन, श्रवण-मनन, चिन्तन-ध्यान आदि जो कुछ किया जाय, सब 'पारमार्थिक' है।

इन दोनों प्रकारके कर्मोंको अपने सुख-आराम आदिका उद्देश्य न रखकर निष्कामभाव एवं श्रद्धा-विश्वाससे केवल भगवान्‌के लिये अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ किये जायँ तो वे सब-के-सब 'तदर्थीय कर्म' हो जाते हैं। भगवदर्थ होनेके कारण उनका फल 'सत्' हो जाता है अर्थात् सत्स्वरूप परमात्माके साथ सम्बन्ध होनेसे वे सभी 'दैवी-सम्पत्ति' हो जाते हैं, जो कि मुक्ति देनेवाली है।

जैसे अग्निमें ठीकरी रख दी जाय तो अग्नि उसको अग्निरूप बना देती है। यह सब अग्निकी ही विशेषता है कि ठीकरी भी अग्निरूप हो जाती है! ऐसे ही उस परमात्माके लिये जो भी कर्म किया जाय, वह सब सत् अर्थात् परमात्म-स्वरूप हो जाता है अर्थात् उस कर्मसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उस कर्ममें जो भी विशेषता आयी है, वह परमात्माके सम्बन्धसे ही आयी है। वास्तवमें तो कर्ममें कुछ भी विशेषता नहीं है।

यहाँ '**तदर्थीयम्**' कहनेका तात्पर्य है कि जो ऊँचे-से-ऊँचे भोगोंको, स्वर्ग आदि भोग-भूमियोंको न चाहकर केवल परमात्माको चाहता है, अपना कल्याण चाहता है, मुक्ति चाहता है, ऐसे साधकका जितना पारमार्थिक साधन बन गया है, वह सब सत् हो जाता है। इस विषयमें भगवान्‌ने कहा है कि 'कल्याणकारी काम करनेवाले किसीकी भी दुर्गति नहीं होती' (गीता—छठे अध्यायका चालीसवाँ श्लोक), इतनी ही बात नहीं, 'जो योग-(समता अथवा परमात्मतत्त्व-) का जिज्ञासु होता है, वह भी वेदोंमें स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये बताये हुए सकाम कर्मोंसे ऊँचा उठ जाता है' (गीता—छठे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। कारण कि वे कर्म तो फल देकर नष्ट हो जाते हैं, पर उस परमात्माके लिये किया हुआ साधन—कर्म नष्ट नहीं होता, प्रत्युत सत् हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—पचीसवें श्लोकमें निष्कामभावसे कर्म करनेकी बात आयी थी—'**अनभिसन्धाय फलम्**'। अब यहाँ भगवान्‌के लिये कर्म करनेकी बात आयी है। मुक्ति चाहनेवाले निष्कामभावसे कर्म करते हैं—'**मोक्षकाङ्क्षिभिः**' (गीता १७। २५) और भक्ति चाहनेवाले भगवान्‌के लिये कर्म करते हैं (गीता—नवें अध्यायका छब्बीसवाँ, सत्ताईसवाँ, अट्ठाईसवाँ श्लोक)।

भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे भी कर्म 'सत्' अर्थात् सत्-फल देनेवाला हो जाता है और असत्‌के सम्बन्धका त्याग होनेसे भी कर्म 'सत्' हो जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें आया कि परमात्माके उद्‌देश्यसे किये गये कर्म 'सत्' हो जाते हैं। परन्तु परमात्माके उद्‌देश्यसे रहित जो कर्म किये जाते हैं, उनकी कौन-सी संज्ञा होगी? इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**यत्**	=(और भी) जो कुछ	**इह**	=यहाँ होता है
अश्रद्धया	=अश्रद्धासे	**कृतम्**	=किया जाय, (वह सब)	**च**	=और
हुतम्	=किया हुआ हवन,			**न**	=न
दत्तम्	=दिया हुआ दान (और)	**असत्**	='असत्'—	**प्रेत्य**	=मरनेके बाद ही होता है अर्थात् उसका कहीं भी सत् फल नहीं होता।
		इति	=ऐसा		
तप्तम्	=तपा हुआ	**उच्यते**	=कहा जाता है।		
तपः	=तप	**तत्**	=उसका (फल)		
च	=तथा	**नो**	=न तो		

व्याख्या—‘**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्**’—अश्रद्धापूर्वक यज्ञ, दान और तप किया जाय, और ‘**कृतं च यत्**’* अर्थात् जिसकी शास्त्रमें आज्ञा आती है, ऐसा जो कुछ कर्म अश्रद्धापूर्वक किया जाय—वह सब ‘असत्’ कहा जाता है।

‘**अश्रद्धया**’ पदमें श्रद्धाके अभावका वाचक ‘**नञ्**’ समास है, जिसका तात्पर्य है कि आसुरलोग परलोक, पुनर्जन्म, धर्म, ईश्वर आदिमें श्रद्धा नहीं रखते।

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी।
श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥

(मानस ७। ९८। १)

—इस प्रकारके विरुद्ध भाव रखकर वे यज्ञ, दान आदि क्रियाएँ करते हैं।

जब वे शास्त्रमें श्रद्धा ही नहीं रखते, तो फिर वे यज्ञ आदि शास्त्रीय कर्म क्यों करते हैं? वे उन शास्त्रीय कर्मोंको इसलिये करते हैं कि लोगोंमें उन क्रियाओंका ज्यादा प्रचलन है, उनको करनेवालोंका लोग आदर करते हैं तथा उनको करना अच्छा समझते हैं। इसलिये समाजमें अच्छा बननेके लिये और जो लोग यज्ञ आदि शास्त्रीय कर्म करते हैं, उनकी श्रेणीमें गिने जानेके लिये वे श्रद्धा न होनेपर भी शास्त्रीय कर्म कर देते हैं।

‘**असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह**’—अश्रद्धापूर्वक यज्ञ आदि जो कुछ शास्त्रीय कर्म किया जाय, वह सब ‘**असत्**’ कहा जाता है। उसका न इस लोकमें फल होता है और न परलोकमें—जन्म-जन्मान्तरमें ही फल होता है। तात्पर्य यह कि सकामभावसे श्रद्धा एवं विधिपूर्वक शास्त्रीय कर्मोंको करनेपर यहाँ धन-वैभव, स्त्री-पुत्र आदिकी प्राप्ति और मरनेके बाद स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है और उन्हीं कर्मोंको निष्कामभावसे श्रद्धा एवं विधिपूर्वक करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्मप्राप्ति हो जाती है; परन्तु अश्रद्धापूर्वक कर्म करनेवालोंको इनमेंसे कोई भी फल प्राप्त नहीं होता।

यदि यहाँ यह कहा जाय कि अश्रद्धापूर्वक जो कुछ भी किया जाता है, उसका इस लोकमें और परलोकमें कुछ भी फल नहीं होता, तो जितने पाप-कर्म किये जाते हैं, वे सभी अश्रद्धासे ही किये जाते हैं, तब तो उनका भी कोई फल नहीं होना चाहिये! और मनुष्य भोग भोगने तथा संग्रह करनेकी इच्छाको लेकर अन्याय, अत्याचार, झूठ, कपट, धोखेबाजी आदि जितने भी पाप-कर्म करता है, उन कर्मोंका फल दण्ड भी नहीं चाहता! पर वास्तवमें ऐसी बात है नहीं। कारण कि कर्मोंका यह नियम है कि रागी पुरुष रागपूर्वक जो कुछ भी कर्म करता है, उसका फल कर्ताके न चाहनेपर भी कर्ताको मिलता ही है। इसलिये आसुरी-सम्पदावालोंको बन्धन और आसुरी योनियों तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है।

छोटे-से-छोटा और साधारण-से-साधारण कर्म भी यदि उस परमात्माके उद्देश्यसे ही निष्कामभावपूर्वक किया जाय, तो वह कर्म ‘सत्’ हो जाता है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला हो जाता है; परन्तु बड़े-से-बड़ा यज्ञादि कर्म भी यदि श्रद्धापूर्वक और शास्त्रीय विधि-विधानसे सकामभावपूर्वक किया जाय, तो वह कर्म भी फल देकर नष्ट हो जाता है; परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला नहीं होता तथा वे यज्ञादि कर्म यदि अश्रद्धापूर्वक किये जायँ, तो वे सब असत् हो जाते हैं अर्थात् ‘सत्’ फल देनेवाले नहीं होते। तात्पर्य यह है कि परमात्माकी प्राप्तिमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत श्रद्धाभावकी ही प्रधानता है।

पूर्वोक्त सद्भाव, साधुभाव, प्रशस्त कर्म, सत्-स्थिति और तदर्थीय कर्म—ये पाँचों परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे अर्थात् ‘सत्’—परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाले होनेसे ‘सत्’ कहे जाते हैं।

अश्रद्धासे किये गये कर्म ‘असत्’ क्यों होते हैं? वेदोंने, भगवान्‌ने और शास्त्रोंने कृपा करके मनुष्योंके कल्याणके लिये ही ये शुभकर्म बताये हैं, पर जो मनुष्य इन तीनोंपर अश्रद्धा करके शुभकर्म करते हैं, उनके ये सब कर्म ‘असत्’ हो जाते हैं। इन तीनोंपर की हुई अश्रद्धाके कारण उनको नरक आदि दण्ड मिलने चाहिये; परन्तु उनके कर्म शुभ (अच्छे) हैं, इसलिये उन कर्मोंका कोई फल नहीं होता—यही उनके लिये दण्ड है।

मनुष्यको उचित है कि वह यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि शास्त्रविहित कर्मोंको श्रद्धापूर्वक और निष्कामभावसे करे। भगवान्‌ने विशेष कृपा करके मानव-शरीर दिया है और इसमें शुभकर्म करनेसे अपनेको और सब लोगोंको लाभ होता है। इसलिये जिससे अभी और परिणाममें सबका हित हो—ऐसे श्रेष्ठ कर्तव्य-कर्म श्रद्धापूर्वक और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करते रहना चाहिये।

*** यहाँ ‘सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्’—व्याकरणके इस न्यायके अनुसार यज्ञ, दान और तपके साहचर्यसे ‘कृतम्’ पदसे शास्त्रीय कर्म ही लिये जायँगे।**

परिशिष्ट भाव—'कृतं च यत्' पदोंमें नामजप, कीर्तन आदि नहीं आयेंगे; क्योंकि उनमें भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे वे 'कर्म' नहीं हैं, प्रत्युत 'उपासना' है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्,—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ १७ ॥

इस अध्यायमें श्रद्धाके तीन विभाग किये गये हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। इस विभागको जो ठीक-ठीक जान लेगा, वह सात्त्विकी श्रद्धाका ग्रहण और राजसी-तामसी श्रद्धाका त्याग कर देगा। राजसी-तामसी श्रद्धाका त्याग करते ही (सात्त्विकी श्रद्धासे) भगवान्‌के साथ स्वत:सिद्ध नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जायगा। इसलिये इस अध्यायका नाम 'श्रद्धात्रयविभागयोग' रखा गया है।

सत्रहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ सप्तदशोऽध्यायः**' के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके चार, श्लोकोंके तीन सौ अड़तीस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ अट्ठावन है।

(२) इस अध्यायमें '**अथ सप्तदशोऽध्यायः**' के आठ, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके तेरह, श्लोकोंके आठ सौ छियानबे और पुष्पिकाके इक्यावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग नौ सौ अड़सठ है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो उवाच हैं—'**अर्जुन उवाच**' और '**श्रीभगवानुवाच**'।

सत्रहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके अट्ठाईस श्लोकोंमेंसे तीसरे श्लोकके पहले चरणमें 'मगण' और तीसरे चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**संकीर्ण-विपुला**'; दसवें और बारहवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा पचीसवें-छब्बीसवें श्लोकोंके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंके प्रथम चरणमें 'मगण प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; ग्यारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; और उन्नीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष उन्नीस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।